सूर्य्यकुमारी-पुस्तकमाला—१४

हिंदी की गद्य-शैली का विकास

लेखक

जगन्नाथप्रसाद शर्म्मा, एम० ए०

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा की ओर से

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

सं० १९९०

द्वितीय संस्करण] [मूल्य २)

परिचय

जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रांत में खेतड़ी राज्य है। वहाँ के राजा श्रीअजीतसिंहजी बहादुर बड़े यशस्वी और विद्याप्रेमी हुए। गणित शास्त्र में उनकी अद्भुत गति थी। विज्ञान उन्हें बहुत प्रिय था। राजनीति में वह दक्ष और गुणग्राहिता में अद्वितीय थे। दर्शन और अध्यात्म की रुचि उन्हें इतनी थी कि विलायत जाने के पहले और पीछे स्वामी विवेकानंद उनके यहाँ महीनों रहे। स्वामीजी से घंटों शास्त्र-चर्चा हुआ करती। राजपूताने में प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्यश्लोक महाराज श्रीरामसिंहजी को छोड़कर ऐसी सर्वतोमुखी प्रतिभा राजा श्रीअजीतसिंहजी ही में दिखाई दी।

राजा श्रीअजीतसिंहजी की रानी आउआ (मारवाड़) चाँपावतजी के गर्भ से तीन संतति हुईं—दो कन्या, एक पुत्र। ज्येष्ठ कन्या श्रीमती सूर्यकुमारी थीं जिनका विवाह शाहपुरा के राजाधिराज सर श्रीनाहरसिंहजी के ज्येष्ठ चिरंजीव और युवराज राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी से हुआ। छोटी कन्या श्रीमती चाँदकुँवर का विवाह प्रतापगढ़ के महारावल साहब के युवराज महाराजकुमार श्रीमानसिंहजी से हुआ। तीसरी संतान जयसिंहजी थे जो राजा श्रीअजीतसिंहजी और रानी चाँपावतजी के स्वर्गवास के पीछे खेतड़ी के राजा हुए।

इन तीनों के शुभचिंतकों के लिये तीनों की स्मृति, संचित कर्मों के परिणाम से, दुःखमय हुई। जयसिंहजी का स्वर्गवास सत्रह वर्ष की अवस्था में हुआ। सारी प्रजा, सब शुभचिंतक, संबंधी, मित्र और गुरुजनों का हृदय आज भी उस आँच से जल ही रहा है। अश्वत्थामा के व्रण की तरह यह घाव कभी भरने का नहीं। ऐसे आशामय जीवन का ऐसा निराशात्मक परिणाम कदाचित् ही हुआ हो। श्रीसूर्यकुमारीजी को एकमात्र भाई के वियोग की ऐसी ठेस लगी कि दो ही तीन वर्ष में उनका शरीरांत हुआ। श्रीचाँदकुँवर बाईजी को वैधव्य की विषम यातना भोगनी पड़ी और भ्रातृ-वियोग और पति-वियोग दोनों का

असह्य दुःख वे झेल रही हैं। उनके एकमात्र चिरंजीव प्रतापगढ़ के कुँवर श्रीरामसिंहजी से मातामह राजा श्रीअजीतसिंहजी का कुल प्रजावान् है।

श्रीमती सूर्य्यकुमारीजी के कोई संतति जीवित न रही। उनके बहुत आग्रह करने पर भी राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी ने उनके जीवन-काल में दूसरा विवाह नहीं किया। किंतु उनके वियोग के पीछे, उनके आज्ञानुसार, कृष्णगढ़ में विवाह किया जिससे उनके चिरंजीव वंशांकुर विद्यमान हैं।

श्रीमती सूर्य्यकुमारीजी बहुत शिक्षिता थीं। उनका अध्ययन बहुत विस्तृत था। उनका हिंदी का पुस्तकालय परिपूर्ण था। हिंदी इतनी अच्छी लिखती थीं और अक्षर इतने सुंदर होते थे कि देखनेवाले चमत्कृत रह जाते। स्वर्गवास के कुछ समय के पूर्व श्रीमती ने कहा था कि स्वामी विवेकानंदजी के सब ग्रंथों, व्याख्यानों और लेखों का प्रामाणिक हिंदी अनुवाद मैं छपवाऊँगी। बाल्यकाल से ही स्वामीजी के लेखों और अध्यात्म विशेषतः अद्वैत वेदांत की ओर श्रीमती की रुचि थी। श्रीमती के निदेशानुसार इसका कार्य्यक्रम बाँधा गया। साथ ही श्रीमती ने यह इच्छा प्रकट की कि इस संबंध में हिंदी में उत्तमोत्तम ग्रंथों के प्रकाशन के लिये एक अक्षय निधि की व्यवस्था का भी सूत्रपात हो जाय। इसका व्यवस्थापत्र बनते बनते श्रीमती का स्वर्गवास हो गया।

राजकुमार उमेदसिंहजी ने श्रीमती की अंतिम कामना के अनुसार बीस हजार रुपए देकर काशी-नागरीप्रचारिणी सभा के द्वारा इस ग्रंथमाला के प्रकाशन की व्यवस्था की है। स्वामी विवेकानंदजी के यावत् निबंधों के अतिरिक्त और भी उत्तमोत्तम ग्रंथ इस ग्रंथमाला में छापे जायँगे और अल्प मूल्य पर सर्वसाधारण के लिये सुलभ होंगे। ग्रंथमाला की बिक्री की आय इसी में लगाई जायगी। यों श्रीमती सूर्य्यकुमारी तथा श्रीमान् उमेदसिंहजी के पुण्य तथा यश की निरंतर वृद्धि होगी और हिंदी भाषा का अभ्युदय तथा उसके पाठकों को ज्ञान-लाभ होगा।

प्रथम संस्करण की भूमिका

दो शब्द

पुस्तक लिखने का मेरा यह प्रयास सफल न हुआ होता यदि मेरे मान्य पंडित रामचंद्रजी शुक्ल तथा बाबू श्यामसुंदर-दासजी मेरी सहायता न करते। पुस्तक को शुद्धता एवं सुंद-रता से प्रकाशित करने का समस्त श्रेय बाबू साहब को है। पंडितजी के 'परिचय' तथा विवेचनात्मक परामर्श के लिये मैं सदैव उनका आभारी रहूँगा।

अपनी पुस्तक के विषय में मैं कुछ विशेष न कहकर केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझता हूँ कि—

"In some cases an eleventh hour attempt has been made to make the discussion more up-to-date.........But altogether such a work must necessarily suffer, in the author's opinion, from the shortcoming of being never exactly up-to-date. He therefore commends this work to the generous indulgence of the critical reader, not with any intention to minimise the personal criticism against himself, but rather with a view to secure a better reading for a work which, the author honestly believes, attempts to meet a much-felt need."

इसके अतिरिक्त जो त्रुटियाँ हमारे शुक्लजी ने अपने 'परिचय' में बतलाई हैं उनका परिमार्जन मैं दूसरे संस्करण में यथासंभव करूँगा। कई कारणों से मैं अभी उनके विषय में कुछ नहीं कर सकता।

औरंगाबाद, काशी
विजया दशमी १९८७

जगन्नाथप्रसाद शर्म्मा

द्वितीय संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण शीघ्र ही निकलेगा ऐसी मुझे आशा नहीं थी। यही कारण है कि इस भूमिका को लिखते समय बड़ा संकोच हो रहा है कि क्या लिखूँ। मैंने सोच रखा था कि ऐसा अवसर जब आयगा तब पुस्तक में बड़ी काट-छाँट करनी पड़ेगी और उन अनेक अशुद्धियों का शोधन कर दूँगा जो मेरी अनुपस्थिति के कारण प्रथम अवसर में रह गई थीं। इधर अधिक अध्ययन के कारण विभिन्न लेखकों की रचनाओं का जो विशेष ज्ञान हुआ है उसका भी कोई सुंदर उपयोग करूँगा ऐसा विचार कर रखा था।

सहसा यह समाचार सुनकर कि "पुस्तक की एक भी प्रति नहीं है" मैं किं-कर्तव्य-विमूढ़ हो गया। समय की न्यूनता एवं कार्य की अधिकता का विचार करने पर मैंने यही उचित समझा कि इस समय पुस्तक को इसी रूप में छपने को दे दूँ। यही कारण है कि इस संस्करण में पुस्तक के स्वरूप और विषय में कोई विचारणीय रूपांतर न दिखाई पड़ेगा। हाँ, मैंने इतना अवश्य किया है कि छापे की और भाषा संबंधी जो अनेक भूलें दिखाई पड़ती थीं उनका संशोधन कर दिया है। पुस्तक के आरंभिक अंश में कहीं कहीं थोड़ा सा बढ़ाया-घटाया है परंतु ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं। पुस्तक में जिन न्यूनताओं का मैं स्वयं अनुभव कर रहा हूँ उनका परिहार तृतीय संस्करण में कर सकूँगा ऐसी मैं आशा करता हूँ।

औरंगाबाद, काशी
विजया दशमी १९९०

जगन्नाथप्रसाद शर्मा

ग्रंथ का परिचय

हिंदी-गद्य की भाषा का स्वरूप स्थिर हुए बहुत दिन हो गए। उसके भीतर विविध शैलियों का विकास भी अब पूरा पूरा देखने में आ रहा है। यह समय आ गया है कि लेखकों की भिन्न भिन्न शैलियों की विशेषताओं का सम्यक् निरूपण और पर्य्यालोचन हो। इस ओर पहला प्रयत्न श्रीयुत पंडित रमाकांत त्रिपाठी, एम० ए०, अध्यापक जसवंत कालेज, जोधपुर, ने अपनी 'हिंदी-गद्य-मीमांसा' द्वारा किया। इसके लिये वे अवश्य धन्यवाद के पात्र हैं—चाहे उनके प्रकट किए हुए कुछ विचारों से बहुत से लोग संतुष्ट या सहमत न हों। इतना मानने में तो किसी को आगा-पीछा न होना चाहिए कि आरंभ से लेकर आज तक के बहुत से गद्य-लेखकों की भाषा-संबंधिनी कुछ विशेषताओं का व्यवस्थित दिग्दर्शन कराते हुए त्रिपाठीजी ने प्रत्येक के दो दो तीन तीन लेख नमूनों के तौर पर हमारे सामने रखे हैं। शैली-समीक्षक मिंटो की प्रसिद्ध अँगरेज़ी पुस्तक के ढंग पर उन्होंने आरंभ में भाषा-संबंधी कुछ विवेचन और शैलियों का सामान्य वर्गीकरण भी किया है। पर उनका मुख्य उद्देश्य नमूनों का संग्रह जान पड़ता है।

प्रस्तुत पुस्तक का लक्ष्य त्रिपाठीजी की पुस्तक के लक्ष्य से कुछ भिन्न है। नमूनों के रूप में लेखों का संग्रह इसका उद्देश्य नहीं। इसमें हिंदी-गद्य का विकास-क्रम दिखाकर भिन्न भिन्न लेखकों की प्रवृत्तियों के स्पष्टीकरण और वाग्विधान की विशिष्टताओं के अन्वेषण का अधिक और विस्तृत प्रयास किया गया

है। लेखों के अंश स्थान स्थान पर निरूपित तथ्यों के उदाहरण-स्वरूप ही उद्धृत किए गए हैं। विवेचन कहाँ तक ठीक हुआ है, विशेषताओं की परख में कहाँ तक सफलता हुई है, इसका निर्णय तो भिन्न भिन्न लेखकों की वाग्विभूति का विशेष अनुभव करनेवाले महानुभावों के अनुमोदन द्वारा कुछ काल में ही हो सकेगा। पर इतना कहा जा सकता है कि बहुत सी सलक्ष्य विशेषताओं की ओर ध्यान आकर्षित करके लेखक ने और सूक्ष्म अनुसंधान की आवश्यकता प्रकट कर दी है।

हिंदी के वर्त्तमान लेखकों में से कुछ में तो शैली की विशिष्टता उनकी निज की भाव-पद्धति और विचार-पद्धति के अनुरूप अभिव्यंजना के स्वाभाविक विकास द्वारा आई है और कुछ में बाहर के अनुकरण द्वारा। विशिष्टता की उत्पत्ति के ये दोनों विधान भाषा में साथ साथ चलते हैं और आवश्यक हैं। पर शैली की विशिष्टता के विन्यास के पूर्व भाषा की सामान्य योग्यता अपेक्षित होती है। आजकल हिंदी लिखने-वालों की संख्या सौभाग्य से उत्तरोत्तर बढ़ रही है। पर यह देखकर दुःख होता है कि इनमें से बहुत से लोग प्रारंभिक योग्यता और अभ्यास प्राप्त करने के बहुत पहले ही विशिष्टता के प्रार्थी दिखाई पड़ते हैं। शैली कोई हो, वाक्य-रचना की व्यवस्था, भाषा की शुद्धता और प्रयोगों की समीचीनता सर्वत्र आवश्यक है। जब तक ये बातें न सध जायँ तब तक लिखने का अधिकार ही न समझना चाहिए। इनके बिना भाषा लिखने-पढ़ने की भाषा ही नहीं है जिसकी शैली आदि का विचार होता है। न अज्ञता या कचाई कोई विशिष्टता कही जा सकती है; न दोष या अशुद्धि कोई नवीन शैली। अपनी

बुद्धि की निष्क्रियता और भाषा की कचाई के बीच केवल देशी-विदेशो समीक्षाओं की शैली के अनुकरण द्वारा विशिष्टता-प्रदर्शन का प्रयत्न झूठी नक़ल या धोखेबाज़ी ही कहा जायगा। पर आजकल कोई पत्रिका उठाइए उसमें कहीं न कहीं 'कवि-स्वप्न' आदि की बातें बड़े करामाती ढंग से, बड़ी गंभीर मुद्रा के साथ, ऐसे ऐसे वाक्यों में कही हुई मिलेंगी—

"वे अपने दिमाग़ के अंदर घुसते ही स्वप्न को अपने आलोक में अपना सौंदर्य्य न बिखेरने देकर अपने जादू से उसे तुरंत बेहोश कर दिए हैं।"

जब से श्रीयुत पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' से अपना हाथ खींचा तब से मैदान में नए नए उतरनेवाले लेखकों के लिये अपनी भाषा-संबंधिनी प्रारंभिक योग्यता की जाँच के लिये कोई साधन ही नहीं रह गया। लेखक तो लेखक, प्रयाग की एक मासिक पत्रिका ने अभी हाल ही में अपना अशुद्ध जीवन समाप्त किया है। आज हिंदी में मासिक पत्रिकाओं की कमी नहीं है। उनमें से दो-एक भी यदि पूरी चौकसी रखें तो सदोष भाषा का यह प्रवाह बहुत कुछ रुक सकता है।

वर्त्तमान गद्य-लेखकों की प्रवृत्तियों की ओर ध्यान देने पर तीन प्रकार की शैली लक्षित होती है—विचार-प्रधान, भाव-प्रधान और उभयात्मक। एक ही लेखक की अंतर्वृत्ति कभी विचारोन्मुख होती है और कभी भावोन्मुख। अतः उसकी भाषा भी कहीं एक ढंग पकड़ती है, कहीं दूसरा। पर सामान्य प्रवृत्ति के विचार से उसकी शैली उक्त तीन विभागों में से किसी एक के अंतर्गत रखी जा सकती है। बंगभाषा के प्रभाव से

इधर भावात्मक भाषा-विधान की ओर बहुत से लेखकों का झुकाव दिखाई पड़ता है जिनमें से कई एक को पूरी सफलता भी प्राप्त हुई है। इस संबंध में मुझे यही कहना है कि भाषा की शक्ति का विकास दोनों क्षेत्रों में वांछित है—विचार के क्षेत्र में भी और भाव के क्षेत्र में भी। भाषा जब विचार की गति के रूप में चलती है तब पाठक नए नए तथ्यों तक पहुँचते हैं और जब भाव-संचरण के रूप में चलती है तब प्रस्तुत तथ्यों के प्रति उनके हृदय में आनंद, करुणा, हास, क्रोध इत्यादि जागरित होते हैं। ये दोनों विधान अंतःकरण के विकास के लिये आवश्यक हैं और भाषा की शक्ति सूचित करते हैं। मेरे विचार में इन दोनों के अपेक्षित योग में ही भाषा की पूर्ण विभूति प्रकट होती है।

पहली बात है तथ्यों का उद्‌घाटन, फिर उनके प्रति उपयुक्त भावों का प्रवर्त्तन। यदि भाषा विचार की पद्धति एकदम छोड़ देगी तो वह कुछ बँधी हुई बातों पर ही भावावेश की उछल-कूद तमाशे के ढंग पर दिखाया करेगी। उसमें न गुरुत्व रहेगा, न सचाई। भावों की सच्ची और स्वाभाविक क्रीड़ा के लिये ज्ञान-प्रसार द्वारा जब नई नई ज़मीन निकलती आती है तभी भाषा वास्तव में अपनी पूरी कला दिखाती जान पड़ती है।

इस पुस्तक में कोई ख़ास कसौटी काम में नहीं लाई गई है। लेखकों की अनुरंजनकारिणी विशेषताओं के निरूपण का ही मुग्ध दृष्टि से प्रयत्न किया गया है। अतः इसमें कही हुई बातों को किसी अधिकारी के निर्णय के रूप में ग्रहण करने की अपेक्षा एक तत्पर हृदय पर पड़े हुए संस्कार या प्रभाव के रूप में ग्रहण करना ही समीचीन होगा। इसमें संदेह नहीं

कि लेखक ने बहुत कुछ मार्मिक दृष्टि से काम लिया है और लेखकों की बहुत सी विशेषताओं का अच्छा उद्घाटन किया है, यद्यपि बहुत से लेखकों के संबंध में एक ही ढंग की प्रचलित और रूढ़ पदावली कहीं कहीं स्वच्छंद समीक्षण का मार्ग छेंकती सी जान पड़ती है। इसका कारण, मेरे देखने में, सूक्ष्म विभेदों की व्यंजना के लिये अपेक्षित शब्द-सामग्री की कमी है। आशा है सूक्ष्म-दृष्टि-संपन्न लेखकों के सतत व्यवहार से मँजकर हमारी भाषा यह कमी शीघ्र पूरी कर लेगी।

अंत में मुझे यही कहना है कि शर्म्माजी की इस कृति के भीतर शैली-समीक्षा के प्रवर्त्तन की बड़ी भव्य संभावना दिखाई पड़ती है जिससे आशा होती है कि हमारी हिंदी में साहित्य के इस अंग का स्फुरण भी बहुत शीघ्र उसी सजीवता के साथ होगा जिस सजीवता के साथ और और अंगों का हो रहा है। काशी-विश्वविद्यालय के भीतर उनके साथ मेरा जो संबंध रहा है उसके कारण मुझे उनके इस सदुद्योग पर जितना हर्ष है उतना ही गर्व भी। मुझे पूरा भरोसा है कि वे हिंदी-साहित्य-क्षेत्र के वर्त्तमान अंधाधुंध से न घबराकर स्वच्छ दृष्टि के साथ उसके भीतर प्रवेश करेंगे और अपना कोई मार्ग निकालेंगे।

दुर्गाकुंड; काशी } रामचंद्र शुक्ल

विषय-सूची

* इनके चित्र भी हैं।

पृष्ठांक

* इनके चित्र भी हैं।

हिंदी की गद्य-शैली का विकास

साहित्य की भाषा का निर्माण सदैव बोलचाल की सामान्य भाषा से होता है। ब्रज की भाषा का जो रूप साहित्य की भाषा में व्यवहृत हुआ वह बोलचाल से कुछ भिन्न था। यों तो प्रांत प्रांत की बोलियाँ विशेष थीं, परंतु वह बोली जिसने आज हमारी साहित्यिक भाषा का रूप धारण कर लिया है आठवीं और नवीं शताब्दी से ही पश्चिमी युक्तप्रांत के व्यवहार एवं बोलचाल की भाषा रही*। उस स्थान से क्रमशः मुसलमानों के विस्तार के साथ वह बोली भी इधर-उधर फैलने लगी और कई शताब्दियों के उपरांत यही समस्त उत्तर भारत की शिष्ट भाषा बन बैठी। यही भाषा संस्कृत एवं विकसित होकर आज खड़ी बोली कहलाती है।

इतिवृत्त

साहित्यिक रचना में इस खड़ी बोली का पता कितने प्राचीन काल तक का लगता है यह प्रश्न बड़ी उलझन का है। आरंभ से ही चारण कवियों का झुकाव शौरसेनी अथवा ब्रज-भाषा की ओर था; अतः वीरगाथा काल के समाप्त होते होते इसने अपनी व्यापकता और अपने साम्राज्य का पूर्ण विस्तार किया। कुछ अधिक समय व्यतीत न हो पाया था कि इस भाषा में ग्रंथ आदि लिखे जाने लगे; पर इन ग्रंथों की भाषा

---

* देखिए 'द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ', पृष्ठ ४१८--२१।

विशुद्ध अथवा परिमार्जित न हो पाई थी। अभी साहित्य की भाषा का स्वरूप अनियंत्रित एवं अव्यवस्थित था। परंतु यह तो निर्विवाद ही है कि चारण कवियों की अपेक्षा इस समय की भाषा बोलचाल के रूप को अधिक ग्रहण कर रही थी। खुसरो और कबीर की रचनाओं में कई भाषाओं की खिचड़ी दृष्टि-गोचर होती है। इस 'खिचड़ी' में एक भाग खड़ी बोली का भी है। धीरे धीरे यह बोली केवल बोलचाल तक ही परिमित रह गई, और व्यापक रूप में साहित्य की भाषा अवधी तथा ब्रज निर्धारित हुईं।

इधर साहित्य में इस प्रकार ब्रजभाषा का आधिपत्य दृढ़ हुआ, और उधर युक्तप्रांत के पश्चिमोत्तर में खड़ी बोली केवल बोलचाल ही के काम की बनकर पड़ी रही। परंतु संयोग पाकर बोलचाल की कोई भी भाषा साहित्य की भाषा बन बैठती है। पहले उसी में ग्राम्य गीतों की सामान्य रचना आरंभ होती है। तत्पश्चात् वही विकसित होते होते व्यापक रूप धारण कर सर्वप्रिय हो जाती है। यही अवस्था इस खड़ी बोली की हुई। जब तक यह परिमित परिधि में पड़ी रही होगी तब तक इसमें ग्राम्य गीतों और अन्य प्रकार की साधारण रचनाओं का ही प्रचलन रहा होगा, जिसका लिखित रूप अब प्राप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त उसको इस योग्य बनाने की किसी ने चेष्टा भी नहीं की कि उसका उपयोग साहित्यिक रचनाओं में हो सके। सारांश यह कि एक ओर तो परिमार्जित होकर ब्रजभाषा साहित्य की भाषा बनी और दूसरी ओर यह खड़ी बोली अपने जन्मस्थान के आसपास न केवल बोलचाल की साधारण भाषा के रूप में प्रयुक्त होती रही,

वरन् इसमें पढ़े-लिखे मुसलमानों द्वारा कुछ साधारण रूप की पद्य-रचनाएँ भी होने लगीं।

यों तो शारंगधर की रचनाओं में भी कहीं कहीं 'सहसा रे कंत! मेरे कहे' ऐसे वाक्यांश प्राप्य हैं परंतु खड़ी बोली का व्यावहारिक तथा व्यापक प्रयोग हमको खुसरो की कविताओं में मिलता है। इनकी रचनाओं में भाषा का जो सुंदर और पुष्ट रूप दिखाई पड़ता है वही इसको प्रमाणित करने के लिये यथेष्ट है कि उनके पूर्व भी कुछ इस प्रकार की रचनाएँ थीं, जो साधारण जनता के मनोविनोद के लिये लिखी गई होंगी। अस्तु; खुसरो की कविता में खड़ी बोली का रूप बड़ा ही सुंदर दिखाई पड़ता है:—

एक कहानी मैं कहूँ, तू सुन ले मेरे पूत।
बिन परों वह उड़ गया, बाँध गले में सूत॥
(गुड्डी)

श्याम बरन और दाँत अनेक, लचकत जैसी नारी।
दोनों हाथ से खुसरो खींचे, और कहे तू आरी॥
(आरी)

खुसरो की ये ऊपर उद्धृत दोनों पहेलियाँ आजकल की खड़ी बोली के स्पष्ट अनुरूप हैं। वस्तुतः ये जितनी प्राचीन हैं उतनी कदापि नहीं दिखाई पड़तीं। 'कहूँ', 'उड़ गया', 'बाँध', 'और', 'जैसी', 'कहे' इत्यादि रूप इसकी आधुनिकता का द्योतन करने के प्रत्यक्ष साक्षी हैं। ऐसी अवस्था में यह कहना अनुचित न होगा कि खुसरो ने खड़ी बोली की कविता का आदि-रूप सामने उपस्थित किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने आधुनिक खड़ी बोली की जड़ जमाई है।

मुसलमानों के इधर-उधर फैलने पर खड़ी बोली अपने जन्म-स्थान के बाहर भी शिष्टों की भाषा हो चली। खुसरो के उपरांत कबीर ने इस भाषा को अपनाया। उनका ध्येय जन-साधारण में तत्त्वोपदेश करना था; अतः उस समय की सामान्य भाषा का ही ग्रहण समीचीन था। कबीर ने यही किया भी। यों तो उनकी भाषा में खड़ी बोली, अवधी, पूरबी (बिहारी), राजपूतानी, पंजाबी आदि कई बोलियों का मिश्रण है; परंतु खड़ी बोली का पुट उसमें स्पष्ट झलकता है। उनकी भाषा में पूरबीपन का पाया जाना स्वाभाविक है। उनके पूर्व तक साहित्यिक भाषा का संयमन एवं व्यवस्था नहीं हुई थी। अभी तक भाषा का संस्कार ही नहीं हो पाया था। जिस मिश्रित भाषा का आश्रय कबीर ने लिया वही उस काल की प्रामाणिक भाषा थी। प्रायः कई प्रांतीय बोलियों की छाप रहने पर भी, उसमें, वर्तमान खड़ी बोली की आरंभिक अवस्था का रूप पाया जाता है।

उठा बगूला प्रेम का, तिनका उड़ा अकास।
तिनका तिनका से मिला, तिनका तिनके पास॥

घरबारी तो घर में राजी, फक्कड़ राजी बन में।
ऐंठी धोती पाग लपेटी, तेल चुआ जुलफन में॥

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि 'उठा', 'उड़ा', 'से', 'मिला' इत्यादि का आजकल की भाषा से कितना अधिक संबंध है। यह सब कहने का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि उस समय सर्वत्र खड़ी बोली का ही प्राधान्य था। इन अवतरणों से यही निर्विवाद प्रमाणित होता है कि साहित्य की भाषा से परे बोल-चाल की एक सर्वसम्मत भाषा चली आ रही थी। समय

समय पर इस भाषा में लोग रचनाएँ करते रहे। इस प्रकार की रचनाओं का निर्माण केवल मनोविनोद की दृष्टि से ही होता था। रचना की यह धारा कभी टूटी नहीं। ब्रजभाषा की धारावाहिक प्रगति में, रहीम, सीतल, भूषण, सूदन आदि कवियों की रचनाओं में—स्थान स्थान पर खड़ी बोली का सुंदर प्रयोग दिखाई देता है। परंतु ब्रजभाषा के बाहुल्य में उनका पता नहीं लगता। आज बीसवीं शताब्दी में जिस खड़ी बोली का इतना व्यापक प्रसार दिखाई पड़ता है, उसका इतिहास इस विचार से बहुत प्राचीन है।

काव्य का प्रेम सभी में होता है, चाहे वह हिंदू हो, चाहे अँगरेज हो, चाहे मुसलमान हो। सभी सहृदय होते हैं, सभी में सरसता होती है और सभी कल्पना के वैभव का अनुभव करते हैं। जिस समय मुसलमान भारतवर्ष में आए उस समय, यह तो स्पष्ट ही है कि, उस भाषा का व्यवहार वे नहीं कर सकते थे, जिसका इतने दिनों से वे अपने आदिम स्थानों में करते आए थे। यहाँ आने पर स्वभावतः उन्हें अपनी भाषा का स्थान हिंदी को देना पड़ा। अतः जिन्हें साहित्य-निर्माण अभीष्ट था उन्होंने ब्रजभाषा और अवधी की शरण ली। इसी प्रवृत्ति का यह परिणाम हुआ है कि सूफ़ी कवियों के समुदाय ने हिंदी में रचना की है। इन कवियों ने अपनी रचनाओं में बड़ी सुंदर और मार्मिक अनुभूति की व्यंजना की है। इनके श्रम-स्वरूप कई ग्रंथ तैयार हुए। इनमें अधिकांश उत्तम और उपादेय हैं। कुतुबन, मलिक मुहम्मद जायसी, उसमान, शेख नबी, कासिम शाह, नूरमुहम्मद, फाजिलशाह प्रभृति ने एक से एक उत्तम रचनाएँ कीं। इन सरसहृदयों के द्वारा हिंदी

में एक विशेष प्रकार के काव्य का निर्माण हुआ। इनके अतिरिक्त कितनी ही अन्य रचनाएँ भी हैं, जो एक से एक उत्तम हैं और जिनमें एक से एक मनोरंजक चित्र उपस्थित हुए हैं। सलूकदास, रहीम, रसखान इत्यादि ने स्थान स्थान पर कितने हिंदू कवियों से कहीं अधिक मधुर और प्रसाद-गुण-पूर्ण कविताएँ लिखी हैं। जायसी और रसखान प्रभृति कवियों का भाषा पर भी सुंदर अधिकार था। इन लोगों की रचनाएँ पढ़ने पर शीघ्रता से इसका निश्चय नहीं किया जा सकता कि ये मुसलमान की ही लेखनी से उत्पन्न हुई हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि समस्त उत्तर-भारत की साहित्यिक भाषा व्रजभाषा चली आती थी। मुसलमानों के प्रभाव से शिष्ट-वर्ग के बोलचाल की भाषा खड़ी बोली होती जाती थी। उनको, दिल्ली की प्रधानता के कारण, इसी भाषा का आश्रय लेना पड़ा। वे बोलचाल में, साधारण व्यवहार में, इसी भाषा का उपयोग करते थे, उनका एक प्रधान दल तो व्रजभाषा में साहित्य-निर्माण करता था और साधारण लोग, जो मनोविनोद के लिये कुछ तुकबंदियाँ करते थे, बोलचाल की खड़ी बोली का उपयोग करते थे। इन तुकबंदियों के ढाँचे, भाषा और भाव आदि में भारतीयता की झलक स्पष्ट दिखाई पड़ती थी। इधर राजनीतिक परिस्थितियों के कारण उत्तर और दक्षिण भारत में परस्पर ऐसा संबंध स्थापित हो गया था जिसके कारण उत्तर-निवासियों का स्थायी प्रवेश दक्षिण-भागों में भी हो चला। यही कारण है कि खड़ी बोली का प्रचार केवल उत्तर भारत ही तक परिमित न रहा; वरन् दक्षिण-प्रदेशों में भी इसका सम्यक् प्रसार हुआ।

उर्दू के आरंभिक काव्यकार अधिकतर दक्षिण के ही थे। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में दक्षिण में कई सुंदर कवि हुए। उनकी कविताएँ देखने से यह भी सिद्ध होता है कि मुसलमानी रहन-सहन के कारण खड़ी बोली का प्रचार दक्षिण में भी अच्छा हो गया था। उस समय तक उनमें यह धारणा न थी कि उनकी रचनाओं में किसी एक भाषा-विशेष की प्रधानता हो। वे प्रचलित बोलचाल की खड़ी बोली को ही अपनी भाषा मानते थे। 'पिया', 'वैराग', 'भभूत', 'जोगी', 'अंग', 'जगत', 'रीति', 'सूँ', 'अँखड़ियाँ' इत्यादि हिंदी के शब्दों का प्रयोग वे अधिक करते थे। उनकी रचनाओं में स्थान स्थान पर फारसी और अरबी के शब्द भी आ जाया करते थे और यह बिलकुल स्वाभाविक था। यदि वे उसे बचाने का प्रयत्न करते तो उनकी रचनाओं में कृत्रिमता आने तथा उनके अस्वाभाविक लगने का भय था। उन कवियों की भाषा का रूप देखिए—

पिया बिन मेरे तई वैराग भाया है जो होनी हो सो हो जावे।
भभूत अब जोगियों का अंग लाया है जो होनी हो सो हो जावे॥

—अशरफ़

हम ना तुमको दिल दिया तुम दिल लिया औ दुख दिया।
तुम यह किया हम वह किया यह भी जगत की रीति है॥ —सादी

दिल वली का ले लिया दिल्ली ने छीन।
जा कहो कोई मुहम्मद शाह सूँ॥

टुक वली को सनम गले से लगा।
खुदनुमाई न कर खुदा से डर॥

तुम अँखड़ियों के देखे आलम खराब होगा।

—शाह वली-अल्लाह

वली साहब दक्षिण से उत्तर भारत में चले आए। उस समय यहाँ मुहम्मदशाह शासन कर रहा था। वली के दिल्ली में आते ही लोगों में काव्य-प्रेम की धुन आरंभ हुई। इसी कारण प्रायः लोग उर्दू-कविता का आरंभ वली से मानते हैं। कुछ दिनों तक तो खड़ी बोली का प्रयोग होता रहा; परंतु जैसे जैसे इन मुसलमान कवियों की वृद्धि होती गई, उनमें अपनापन आता गया और उत्तरोत्तर उनकी कविताओं में अरबी और फारसी के शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा। संवत् १७६८ से १८३७ के पास तक आते आते हम देखते हैं कि अरबी और फारसी का मेल अधिक हो जाता है। यों तो मिर्जा मुहम्मद रफी (सौदा) की रचनाओं में से कोई कोई तो वस्तुतः उसी प्रकार की हैं जैसे कि खुसरो की:—

अजब तरह की है एक नार।
उसका मैं क्या करूँ विचार॥
वह दिन डूबे पी के संग।
लागी रहे निसी के अंग॥
मारे से वह जी उठे बिन मारे मर जाय।
बिन भावों जग जग फिरे हाथों हाथ विकाय॥

'नार', 'विचार', 'पी', 'संग', 'निसि', 'अंग', 'बिन', 'जग', 'बिकाय' इत्यादि शब्दों का कितना विशुद्ध प्रयोग है। इसी प्रकार के शब्द, हम देख चुके हैं कि, अशरफ़, सादी और वली की कविता में भी मिलते थे। साधारणतः सौदा के समय में भाषा का यह रूप न था। उस समय तक अरबी और फारसी के शब्दों ने अपना आधिपत्य जमा लिया था, परंतु सौदा की इन पंक्तियों में हमने स्पष्ट देख लिया कि जो

धारा खुसरो और कबीर के समय से निःसृत हुई थी वह इस समय तक बहती चल रही थी।

साहित्य के इतिहास में प्रायः देखा जाता है कि ९० प्रतिशत भाषाओं का आरंभ कविता की रचनाओं से होता है। (साहित्य का प्राथमिक रूप केवल मधुर व्यंजना पर निर्भर करता है। उस अवस्था में साहित्य केवल मनोविनोद की सामग्री समझा जाता है। उस समय यह आवश्यक नहीं समझा जाता कि काव्य में मानव-जीवन का विश्लेषण अथवा आलोचन हो; और उस समय उसमें जीवन की अनुभूतियों की व्यंजना भी नहीं होती। लोगों के विचारों का भी विकास इतना नहीं हुआ रहता कि गूढ़ मनन की ओर ध्यान दिया जाय। इतना ही अलम् समझा जाता है कि भाव-प्रकाशन की विधि कुछ मधुर हो और उसमें कुछ 'लय' हो जिससे साधारणतः गाने का रूप मिल सके।) इसी लिये हम देखते हैं कि काव्य में सर्वप्रथम गीत-काव्यों का ही विकास होता है। यही नियम हम खड़ी बोली के विकास में भी पाते हैं। पहले प्रहेलिकाओं और कहावतों के रूप में काव्य का आरंभ खुसरो से होता है। (तदुपरांत क्रमशः आते आते अकबर के समय तक हमें गद्य का रूप किसी न किसी रूप में व्यवहृत होते दिखाई पड़ता है। गंग की लेखनी से यह रूप निकलता है—"इतना सुन के पातसाहिजी श्री अकबर साहजी आध सेर सोना नरहरदास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया। रास बाँचना पूरन भया। आम खास बरखास हुआ।)"

(इसी प्रकार गद्य चलता रहा और जहाँगीर के शासन-काल में जो हमें जटमल की लिखी 'गोरा बादल की कथा'

मिलती है उसमें 'चारन', 'भया' और 'पूरन' ऐसे बिगड़े हुए रूप न मिलकर शुद्ध 'नमस्कार', 'सुखी', 'आनंद' आदि तत्सम शब्द मिलते हैं।—"गुरु व सरस्वती को नमस्कार करता हूँ।" "उस गाँव के लोग भी बहोत सुखी हैं। घर घर में आनंद होता है।" यदि इसी प्रकार खड़ी बोली का विकास होता रहता तो आज हमारा हिंदी-साहित्य भी संसार के अन्य साहित्यों की भाँति समृद्ध और भरा-पूरा दिखाई पड़ता। परंतु ऐसा हुआ नहीं। इसके कई कारण हैं। पहली बात तो यह है कि उस काल में ब्रजभाषा की प्रधानता थी और विशेष रुचि कल्पना तथा काव्य की ओर थी। लोगों की प्रवृत्ति विचार-विमर्श एवं तथ्यातथ्य-निरूपण की ओर न थी, जिसके लिये गद्य अपेक्षित है। अतः विशेष आवश्यक न था कि गद्य लिखा जाता। दूसरे वह काल विज्ञान के विकास का न था। उस समय लोगों को इस बात की आवश्यकता न थी कि प्रत्येक विषय पर आलोचनात्मक दृष्टि रखें। वैज्ञानिक विषयों का विवेचन साधारणतः पद्य में नहीं हो सकता; उनके विचार-विस्तार के लिये गद्य का सहारा चाहिए। तीसरा कारण गद्य के प्रस्फुटित न होने का यह था कि उस समय कोई ऐसा धार्मिक आंदोलन उपस्थित न हुआ जिसमें वाद-विवाद की आवश्यकता पड़ती और जिसके लिये प्रौढ़ गद्य का होना आवश्यक समझा जाता। उस समय न तो महर्षि दयानंद सरीखे धर्म-प्रचारक हुए और न ईसाइयों को ही अपने धर्म-प्रचार का सुयोग मिला; अन्यथा गद्य का विकास ठीक उसी प्रकार होता जैसा कि आगे चलकर हुआ। किसी भी कारण से हो, गद्य का प्रसार उस समय स्थगित रह गया।

काव्य की ही धारा प्रवाहित होती रही और उसके लिये व्रजभाषा का समतल धरातल अत्यंत अनुकूल था।

व्रजभाषा में केवल काव्य-रचना होती आई हो, यह बात नहीं है। गद्य भी उसमें लिखा गया था, किंतु नाम मात्र के लिये। संवत् १४०० के आसपास के लिखे बाबा गोरखनाथ के कुछ ग्रंथों की भाषा सर्व-प्राचीन व्रजभाषा के गद्य का प्रमाण मानी जाती है। उसमें प्राचीनता के परिचायक लक्षणों की भरमार है; जैसे—"स्वामी तुम्ह तो सतगुरु, अम्हे तो सिष सवद तो एक पूछिबा, दया करि कहिबा, मनि न करिबा रोस"। इस अवतरण के 'अम्हे', 'तुम्ह', 'पूछिबा' और 'करिबा' आदि में हम भाषा का आरंभिक रूप देखते हैं। यह भाषा कुछ अधिक अस्पष्ट भी नहीं। इसके उपरांत हम श्रीविट्ठलनाथ की वार्ताओं के पास आते हैं। उनमें व्रजभाषा के गद्य का हमें वह रूप दिखाई पड़ता है जो सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रचलित था। अतः इन वार्ताओं में भी, जो उसी बोलचाल की भाषा में लिखी गई हैं, स्थान स्थान पर अरबी और फारसी शब्द आ गए हैं। यह बिलकुल स्वाभाविक था। यह सब होते हुए भी हमें इन वार्ताओं की भाषा में स्थिरता और भाव-व्यंजना में अच्छी शक्ति दिखाई पड़ती है। जैसे—"सो श्री नंदगाम में रहतो हतो। सो ब्राह्मण खंडन शास्त्र पढ़ो हतो। सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबको खंडन करतो; ऐसो वाको नेम हतो। याही तें सब लोगन ने वाको नाम खंडन पारयो हतो।"

यदि व्रजभाषा के ही गद्य का यह रूप स्थिर रखा जाता और इसके भाव-प्रकाशन की शैली तथा व्यंजना-शक्ति का

क्रमशः विकास होता रहता तो संभव है कि एक अच्छी शैली का अभ्युदय हो जाता। परंतु ऐसा हुआ नहीं। इसकी दशा सुधरी नहीं, बिगड़ती ही गई। शक्तिहीन हाथों में पड़कर इसकी बड़ी दुर्गति हुई। पहली बात तो यह है कि इस गद्य का भी विकसित रूप पीछे कोई नहीं मिलता, और जो मिलता भी है वह इससे अधिक लचर और तथ्यहीन मिलता है। इन वार्ताओं के अतिरिक्त और कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं मिलता। कुछ टीकाकारों की भ्रष्ट और अनियंत्रित टीकाएँ अवश्य मिलती हैं। ये टीकाएँ इस बात को प्रमाणित करती हैं कि क्रमशः इस गद्य का ह्रास ही होता गया, इसकी अवस्था बिगड़ती गई और इसकी व्यंजनात्मक शक्ति दिन पर दिन नष्ट होती गई। टीकाकार मूल पाठ का स्पष्टीकरण करते ही नहीं थे वरन् उसे और अबोध तथा दुर्गम्य कर देते। "भाषा ऐसी अनगढ़ और लद्धड़ होती थी कि मूल में चाहे बुद्धि काम कर जाय पर टीका के चक्रव्यूह में से निकलना दुर्घट ही समझिए।"

ऊपर कह चुके हैं कि सुलतानों के शासनकाल में ही खड़ी बोली का प्रचार दक्षिण प्रदेशों में और समस्त उत्तर भारत के शिष्ट समाज में था, परंतु यह प्रचार सम्यक् रूप से नहीं था। अभी तक उत्तर के प्रदेशों में प्रधानता युक्तप्रांत की थी; परंतु जिस समय शाही शासन की अवस्था विच्छिन्न हुई और इन शासकों की दुर्बलताओं के कारण चारों ओर से इन पर आक्रमण होने लगे उस समय राजनीतिक संगठन भी छिन्न-भिन्न होने लगा। एक ओर से अहमदशाह दुर्रानी की चढ़ाई ने और दूसरी ओर से मराठों ने दिल्ली के शासन को हिलाना आरंभ कर दिया। अभी तक जो सभ्यता और भाषा

दिल्ली-आगरा और उनके पासवाले प्रदेशों के व्यवहार में थी वह इधर-उधर फैलने लगी। क्रमशः इसका प्रसार समस्त उत्तरी प्रांतों में बढ़ चला। इसी समय अँगरेजों का अधिकार उत्तरोत्तर बढ़ने लगा था। अतः दिल्ली और आगरा की प्रधानता अब बिहार और बंगाल की ओर अग्रसर हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि वह सभ्यता और भाषा जो केवल युक्तप्रांत के पश्चिमी भाग में बँधी थी, धीरे धीरे संपूर्ण युक्तप्रांत, बिहार और बंगाल में फैल गई। इधर मुसलमानों ने अपनी राजधानियाँ बिहार और बंगाल में स्थापित कीं; उधर बंगाल में अँगरेजों की प्रधानता बढ़ ही रही थी। फलतः व्यापार धीरे धीरे पश्चिम से पूर्व की ओर प्रसरित हुआ। इसका प्रभाव भाषा की व्यवस्था पर भी पड़े बिना न रहा। वह खड़ी बोली, जो अब तक पश्चिमी भाग में ही बँधी थी, समस्त उत्तरी भारत में अब अपना अधिकार जमाने में समर्थ हुई।

भारतवर्ष में अँगरेजों के आते ही यहाँ की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थिति में विप्लव उपस्थित हो उठा। राज्यसंस्थापन तथा आधिपत्य-विस्तार की उनकी भावना ने यहाँ के राजनीतिक जगत् में उलट-फेर उत्पन्न कर दिया। उनके नित्य के संसर्ग ने तथा रेल, तार की नूतन सुविधाओं ने यहाँ के रहन-सहन और आचार-विचार में परिवर्तन ला खड़ा किया। उन लोगों के साथ साथ उनका धर्म भी लगा रहा। उनका एक अन्य दल धर्मप्रचार की चेष्टा कर रहा था। धर्म-प्रवर्तन की इस चेष्टा ने धार्मिक जगत् में एक आंदोलन उपस्थित किया। सब ओर एक साधारण दृष्टि फेरने से एक शब्द में कहा जा सकता है कि अब विज्ञान का

युग आरंभ हो गया था। लोगों के विचारों में जागर्ति हो रही थी। उन्हें यह ज्ञात हो चला था कि उनका संबंध केवल उन्हीं के देश, भारतवर्ष, से नहीं है वरन् भारतवर्ष जैसे दूसरे प्रदेश भी हैं; सृष्टि के इस विस्तार से उनका संबंध अविच्छिन्न रहना अनिवार्य है। ऐसी अवस्था में समाज की व्यापकता वृद्धि पाने लगी। इस सामाजिक विकास के साथ ही साथ भाषा की ओर भी ध्यान जाना नितांत स्वाभाविक था। इसी समय यंत्रालयों में मुद्रण-कार्य आरंभ हुआ। इसका प्रभाव नवीन साहित्य के विकास पर अधिक पड़ा।

इस समय तक जो साहित्य प्रचलित था वह केवल पद्यमय था। जो धारा ग्यारहवीं अथवा बारहवीं शताब्दियों से प्रवाहित हुई थी वह आज तक अप्रतिहत रूप में चली आ रही थी। एक समय था, जब कि यह प्रगति सफलता के उच्चतम शिखर पर पहुँच चुकी थी। किंतु अब इसके क्रमागत ह्रास का समय था। इस काल की परिस्थिति इस बात का साक्ष्य देती थी कि अब किसी 'तुलसी', 'सूर' और 'बिहारी' के होने की संभावना न थी। यों तो इस समय में भी कवियों का अभाव नहीं था। ग्रंथों की रचना का क्रम इस समय भी चल रहा था और उनके पाठकों तथा श्रोताओं की कमी भी नहीं थी; किंतु अब यह स्पष्ट भासित होने लगा था कि केवल पद्य-रचना से काम नहीं चलेगा। पद्य-रचना साहित्य का एक अंग-विशेष मात्र है, उसके अन्य अंगों की भी व्यवस्था करनी पड़ेगी, और बिना ऐसा किए उद्धार होने का नहीं। वाद-विवाद, धर्मोपदेश और तथ्यातथ्य-निरूपण के लिये पद्य अनुपयोगी है, यह लोगों की समझ में आने लगा। इन

वालों के लिये गद्य की शरण लेनी पड़ेगी—यह स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा।

किसी काल-विशेष को जिन असुविधाओं का सामना करना पड़ता है उन्हें वह स्वयं अपने अनुकूल बना लेता है। उसके लिये किसी व्यक्ति-विशेष किंवा जाति-विशेष को प्रयत्न नहीं करना पड़ता। जब कोई आवश्यकता उत्पन्न होती है तब उसकी पूर्ति के साधन भी अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं। यही अवस्था इस समय गद्य के विकास की भी हुई। यदि इस काल-विशेष को गद्य-रचना की आवश्यकता पड़ी तो साधन सामने ही थे। विचारणीय विषय यह था कि इस समय व्रजभाषा के गद्य का पुनरुद्धार करना समीचीन होगा अथवा शिष्ट समाज में प्रचलित खड़ी बोली के गद्य का। आधार-स्वरूप दोनों का भांडार एक ही सा दरिद्र था। दोनों में ही संचित द्रव्य—लेख-सामग्री—बहुत न्यून मात्रा में उपलब्ध था। व्रजभाषा के गद्य में यदि टीकाओं की गद्य-शृंखला को लेते हैं तो उसकी अवस्था कुल मिलाकर नहीं के समान हो जाती है। कहा जा चुका है कि इन टीकाओं की भाषा इतनी लचर, अनियंत्रित और अस्पष्ट थी कि उसको ग्रहण नहीं किया जा सकता था। उसमें अशक्तता इतनी अधिक मात्रा में थी कि भाव-प्रकाशन तक उससे भली भाँति नहीं हो सकता था।

खड़ी बोली की अवस्था ठीक इसके विपरीत थी। आधार-स्वरूप उसका भी कोई इतिहास न रहा हो, यह दूसरी बात है; परंतु जन-साधारण उस समय इसके रूप से इतना परिचित और हिला-मिला था कि इसे अपनाने में उसे किसी प्रकार का संकोच न था। दिन रात लोग बोलचाल में इसी का

व्यवहार करते थे। किसी प्रकार के भाव-व्यंजन में उन्हें कुछ अड़चन नहीं पड़ती थी। एक दूसरा विचारणीय प्रश्न यह था कि नवागंतुक अँगरेज नित्य बोलचाल की भाषा सुनते सुनते उससे अभ्यस्त हो गए। अब उनके सम्मुख दूर-स्थित व्रजभाषा का गद्य 'एक नवीन जंतु' था। अतएव उनकी प्रवृत्ति भी उस ओर सहानुभूति-शून्य सी थी। अँगरेजों के ही समान मुसलमान भी उसे नहीं पसंद करते थे; क्योंकि आरंभ से ही वे खड़ी बोली के साथ संबद्ध थे। यदि इस समय भी व्रजभाषा के गद्य के प्रचार की चेष्टा की जाती तो, संभव है, इंशाअल्लाखाँ न हुए होते। एक और प्रश्न लोक-रुचि का भी था। मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति देखी जाती है कि वह सरलता की ओर अधिक आकृष्ट होता है। जिस ओर उसे कष्ट और असुविधा की कम आशंका रहती है उसी ओर वह चलता है। इस दृष्टि से भी जब विचार किया गया होगा तब यही निश्चित हुआ होगा कि अँगरेज तथा उस समय के पढ़े-लिखे हिंदू-मुसलमान सभी खड़ी बोली को स्वीकार कर सकते हैं। उसी में सबको सरलता रहेगी और वही शीघ्रता से व्यापक बन सकेगी। सारांश यह कि खड़ी बोली को स्थान देने के कई कारण प्रस्तुत थे।

किसी भी साहित्य के आरंभिक काल में एक अवस्था ऐसी रहती है कि साधारण वस्तु को ही लेकर चलना पड़ता है। उस समय न तो भाषा में भाव-प्रकाशन की बलिष्ठ शक्ति रहती है और न लेखकों में ही व्यंजना-शक्ति का सम्यक् प्रादुर्भाव हुआ रहता है। अतः यह स्वाभाविक है कि गद्य-साहित्य का समारंभ कथा-कहानी से हो। उस समय साहित्योन्नति के

समारंभ का कारण केवल मनोविनोद ही होता है। वह समय उच्च और महत् विचारों के गवेषणा-पूर्ण चिंतन का नहीं होता। उस समय तथ्यातथ्य-विवेचन असंभव होता है। वहाँ तो यही विचार रहता है कि किसी प्रकार लोग पठन-पाठन के अभ्यासी हों। यही अवस्था हमारे गद्य के इस विकासकाल में थी।

यहीं हमें मुंशी सदासुखलाल (सुखसागर) और इंशा-अल्लाखाँ दिखाई पड़ते हैं। एक कथा का रूप लेकर चले और दूसरे ने कहानी लिखी। इस समय इन दो लेखकों की कृपा से दो वर्गों को पढ़ने का कुछ उपादान, चलती भाषा में, प्राप्त हुआ। धर्म-समाज को धर्म-संबंधी विचार मिले और जन-साधारण को मनोविनोद के लिये एक किस्सा। जैसे दोनों के विषय हैं वैसी ही उनकी भाषा भी है। एक में भाषा शांत संचरण करती हुई मिलती है तो दूसरे में उछलकूद का बोल-बाला है। मुंशीजी की भाषा में संस्कृत के सुंदर तत्सम शब्दों के साथ पुराना पंडिताऊपन है तो खाँ साहब में अरबी-फारसी के साधारण शब्द-समुदाय के साथ साथ वाक्य-रचना का ढंग भी मुसलमानी दिखाई देता है। उदाहरण देखिए:—

"जो सत्य बात होय उसे कहा चाहिए, को बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका जो सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कहके लोगों को बहकाइए और फुसला-इए और असत्य छिपाइए, व्यभिचार कीजिए, और सुरापान कीजिए, और धन द्रव्य इकठोरा कीजिए और मन को कि तमोवृत्ति से भर रहा है उसे निर्मल न कीजिए। तोता है सो नारायण का नाम लेता है परंतु उसे ज्ञान तो नहीं है।" —हिंदी-भाषा-सार, पृ० ९

"सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनानेवाले के साम्हने जिसने हम सबको बनाया और बात की बात में वह कर दिखाया। जिसका भेद किसी ने न पाया। आतियाँ, जातियाँ* जो साँसें हैं, उसके बिन ध्यान सब फाँसें हैं। यह कल का पुतला जो अपने उस खिलाड़ी की सुध रक्खे तो खटाई में क्यों पड़े और कड़वा कसैला क्यों हो?" —रानी केतकी की कहानी

'बात होय', 'को' ('कोई' के लिये), 'हेतु', 'तात्पर्य इसका.........है' इत्यादि पद मुंशीजी में पंडिताऊपन के प्रमाण हैं। आजकल भी कथा-वाचकों में और साहित्य का ज्ञान न रखनेवाले संस्कृत के कोरे पंडितों में इस प्रकार की व्यंजनात्मक परिपाटी पाई जाती है। इसके अतिरिक्त इनमें 'आवता', 'जावता' इत्यादि का प्रयोग भी अधिक मिलता है। इसी पंडिताऊपन का रूप हमें स्वर्गीय पंडित अंबिका-दत्तजी व्यास की रचना में भी मिलता है। मुंशीजी के समय में यह उतना बड़ा दोष नहीं माना जा सकता था जितना व्यासजी के काल में। अस्तु; इन संस्कार-जनित दोषों को छोड़कर इनकी रचना में हमें आगम का चित्र स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है। 'तात्पर्य', 'सत्तोवृत्ति', 'प्राप्त', 'स्वरूप' इत्यादि संस्कृत के तत्सम शब्दों के उचित प्रयोग भाषा के परिमार्जित होने की आशा दिखाते हैं। रचना के साधारण स्वरूप को देखने से एक प्रकार की स्थिरता और गंभीरता की

---

* आने-जानेवाली। पंजाबी बोलचाल में अब तक ऐसे प्रयोग आते हैं। सौ बरस पहले की कविता में भी इसके उदाहरण मिलते हैं। उ०—"वह सूरते इलाही किस देस बस्तियाँ हैं। जिनको कि देखने कूँ आँखें तरस्तियाँ हैं।" —हिंदी-भाषा-सार।

झलक दिखाई पड़ती है। इसकी आशा स्पष्ट हो जाती है कि एक दिन आ सकता है जब इस भाषा में मार्मिक विषयों की विवेचना सरलता से होगी।

उद्भावना-शक्ति के विचार से जब हम खाँ साहब की कृति को देखते हैं तब निर्विवाद मान लेना पड़ता है कि उनका विषय एक नवीन आयोजन था। उनकी कथा का आधार नहीं था। मुंशीजी का कार्य इस विचार से सरल था। खाँ साहब को अपनी इस नवीनता में बड़ी सफलता मिली। कथा का निर्वाह संगठित और क्रम-बद्ध है। भाषा चमत्कारपूर्ण और आकर्षक है। उसमें अच्छा चलतापन है। यह सब होते हुए भी मानना पड़ेगा कि इस प्रकार की भाषा गूढ़ विषयों के प्रतिपादन के लिये उपयोगी नहीं हो सकती। इसमें इतनी चटक-मटक है कि पढ़ते पढ़ते एक मीठी हँसी आ ही जाती है। यही शैली क्रमशः विकसित होकर पंडित पद्मसिंहजी शर्मा की भाव-व्यंजना के रूप में दिखाई देती है। इस शैली की भाषा में धींगा-धींगी तो सफलता के साथ हो सकती है; किंतु गूढ़ गवेषणा के उपयुक्त वह कदापि नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त उनमें तुक लगाते चलने की धुन भी विलक्षण थी। (इसी का और अधिक गाढ़ा रंग लल्लूजीलाल की रचना में मिलता है। अभी तक साहित्य केवल पद्यमय था। अतः सभी के कान श्रुति-मधुर तुकांतों की ओर आकृष्ट होते थे। "हम सबको बनाया, कर दिखाया, किसी ने न पाया" इत्यादि अवतरणों से यह बात स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

कृदंत और विशेषण के प्रयोग में 'वचन' का विचार रखना एक प्राचीन परिपाटी या परंपरागत रूढ़ि थी जो कि अपभ्रंश

काल में तो प्रचलित थी, परंतु खाँ साहब के कुछ पूर्व तक इधर नहीं मिलती थी। अकस्मात् इनकी रचना में फिर वह रूप दिखाई पड़ा। ऊपर दिए हुए अवतरण के 'आतियाँ जातियाँ जो साँसें हैं' में यह बात स्पष्ट है। वास्तव में इस समय 'आती जाती' लिखा जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त इनकी रचना में कहावतों का सुंदर उपयोग और निर्वाह पाया जाता है। यह भाषा मुसलमानों के उपयोग में सैकड़ों वर्ष से आ रही थी। अतः उनके लिये वह एक प्रकार से परिमार्जित हो चुकी थी। उनके लिये कहावतों का सुंदर प्रयोग करना कोई बड़ी बात न थी। इनकी वाक्य-योजना में फारसी का ढंग है। 'सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ अपने बनानेवाले के सामने' में रूप ही उलटा है। इसी को पंडित सदल मिश्र ने लिखा है—'सकल सिद्धिदायक वो देवतन में नायक गणपति को प्रणाम करता हूँ।' क्रिया का वाक्य के अंत में रहना समीचीन है।

सारांश यह कि इंशाअल्लाखाँ की भाषा-शैली उर्दू-ढंग की है और उस समय के सभी लेखकों में यह "सबसे चटकीली मटकीली मुहाविरेदार और चलती" है, परंतु यह मान लेना भ्रमात्मक है कि खाँ साहब की शैली उच्च गद्य के लिये उपयुक्त है। इस ओर स्वतः लेखक की प्रवृत्ति सिद्ध नहीं की जा सकती। वह लिखते समय हाव-भाव, कूद-फाँद और लपक-झपक दिखाना चाहता है। ऐसी अवस्था में गंभीरता का निर्वाह कठिन हो जाता है। फड़कती हुई भाषा का बड़ा सुंदर रूप लेखक ने सामने रखा है। यही कारण है कि तात्त्विक विषयों का पर्यालोचन इस भाषा में नहीं किया

जा सकता। हाँ, यह बात अवश्य है कि खाँ साहब ने अपने विषय के अनुकूल भाषा का उपयोग किया है। उसमें लेखक का प्रतिरूप दिखाई पड़ता है। चलती भाषा का वह बहुत ही आकर्षक रूप है।

जिस समय इधर मुंशी सदासुखलाल और सैयद इंशा-अल्लाखाँ अपनी कृतियों को लेकर साहित्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुए उस समय उधर कलकत्ते में गिलक्रिस्ट साहब भी गद्य के निर्माण में सहायक हुए। फोर्ट विलियम कालेज की अध्यक्षता में लल्लूजीलाल ने 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतो-पाख्यान' लिखा। लल्लूजीलाल के लिये चतुर्भुजदास का भागवत और सदल मिश्र के लिये संस्कृत का नासिकेतोपाख्यान प्राप्त था। दोनों को वस्तुनिर्माण की आवश्यकता नहीं पड़ी। पुराने ढाँचे पर इमारत खड़ी करना अधिक कुशलता का परि-चायक नहीं है। इस दृष्टि से इंशाअल्लाखाँ का कार्य सबसे दुरूह था। खाँ साहब और मुंशीजी ने स्वांतः-सुखाय रचना की और लल्लूजीलाल और मिश्रजी ने केवल दूसरों के उत्साह से ग्रंथ निर्माण किए।

लल्लूजीलाल की भाषा चतुर्भुजदास की भाषा का प्रतिरूप है। उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता ही नहीं दिखाई पड़ती। उस समय तक गद्य का जो विकास हो चुका था उसकी आभा इनकी शैली में नहीं दिखाई पड़ती। भाषा में नियंत्रण और व्यवस्था का पूर्ण अभाव है। शब्द-चयन के विचार से वह धनी ज्ञात होती है। तत्सम शब्दों का प्रयोग उसमें अधिक हुआ है। परंतु इन शब्दों का रूप विकृत भी यथेष्ट हुआ है। स्थान स्थान पर विचित्र देशज शब्द मिलते हैं। अरबी-

फारसी की शब्दावली का व्यवहार नहीं हुआ है। अपवाद-स्वरूप संभव है कहीं कोई विदेशी शब्द आ गया हो। इनकी भाषा सानुप्रास और तुकांतपूर्ण है। उदाहरण देखिए—

"ऐसे वे दोनों प्रिय प्यारी बतराय पुनि प्रीति बढ़ाय अनेक प्रकार से काम कलोल करने लगे और विरही की पीर हरते। आगे पान की मिठाई, मोती माल की शीतलाई और दीपज्योति की मंदताई देख एक बार तो सब द्वार मूँद ऊषा बहुत घबराय घर में आय अति प्यार कर प्रिय को कंठ लगाय लेटी।"

—प्रेम सागर (ऊषा-अनिरुद्ध संवाद)

इस प्रकार की भाषा कथावार्ताओं में ही प्रयुक्त की जा सकती है। उस समय भाषा का जो रूप प्रयोजनीय था उसका निर्माण नहीं हुआ। इनकी भाषा अधिकांश शिथिल है। स्थान स्थान पर ऐसे वाक्यांश आए हैं जिनका संबंध आगे पीछे के वाक्यों से बिलकुल नहीं मिलता। इन सब दोषों के रहते हुए भी इनकी भाषा बड़ी मधुर हुई। स्थान स्थान पर वर्णनात्मक चित्र बड़े सुंदर हैं। यदि लल्लूजीलाल भी सदल मिश्र की भाँति भाषा को स्वतंत्रतापूर्वक विचरण करने देते तो संभव है उनकी प्राचीनता इतनी न खटकती, और कुछ दोषों का परिमार्जन भी अवश्य हो जाता। अरबी-फारसी के लटकों से बचने में इनकी भाषा मुहाविरेदार और आकर्षक नहीं हो सकी और उसमें अधिक तोड़-मरोड़ करनी पड़ी।

लल्लूजीलाल के साथी सदल मिश्र थे। उनकी भाषा व्यावहारिक है। उसमें न तो ब्रजभाषा का अनुकरण है और न तुकांत का लटका। उन्होंने अरबी-फारसी-पन को एकदम पृथक् नहीं किया। इसका परिणाम बुरा नहीं हुआ, क्योंकि

इससे भाषा में मुहाविरों का सुंदर उपयोग कर सके हैं और कुछ आकर्षण तथा रोचकता भी आ गई है। वाक्यों के संगठन में खाँ साहबवाली उलट-फेर की प्रवृत्ति इनमें भी मिलती है। 'जलविहार हैं करते', 'उत्तम गति को हैं पहुँचते', 'अबही हुआ है क्या' इत्यादि में वही धुन दिखाई देती है। इसमें स्थान स्थान पर वाक्य असंपूर्ण अवस्था में ही छोड़ दिए गए हैं। अंतिम क्रिया का पता नहीं है। जैसे 'जहाँ देखो तहाँ देवकन्या सब गातीं'। साधारणतः देखने से भाषा असंयत ज्ञात होती है। 'और' के लिये 'औ' तथा 'वो' दोनों रूप मिलते हैं। बहुवचन के रूप भी दो प्रकार के मिलते हैं—'काजन', 'हाथन', 'सहस्रन' और 'कोटिन्ह', 'मोतिन्ह', 'फूलन्ह', 'बहुतेरन्ह' इत्यादि। मुंशी सदासुखलाल की भाँति इनमें भी पंडिताऊपन मिलता है। 'जाननिहारा', 'आवता', 'करनहारा', 'रहे' (थे के लिये), 'जैसी आज्ञा करिए', 'आवने' इत्यादि इसी के संबोधक हैं। कहीं कहीं पर एक ही शब्द दो रूपों में लिखे गए हैं। उदाहरणार्थ 'कदही' भी मिलता है और 'कधी' भी। 'नहीं' के स्थान में सदैव 'न' लिखा गया है। मिश्रजी कलकत्ते में तो रहते ही थे; यही कारण है कि उनकी भाषा में बँगला का भी प्रभाव दृष्टिगत होता है। 'गाछ', 'काँदना' बँगला भाषा के शब्द हैं। 'सो मैं नहीं सकता हूँ' में बँगलापन स्पष्ट है। उन्होंने 'जहाँ कि' को सर्वत्र 'कि जहाँ' लिखा है।

यों तो मिश्रजी की भाषा अव्यवस्थित और अनियंत्रित है और उसमें एकरूपता का अभाव है; परंतु उसमें भाव-प्रकाशन की पद्धति सुंदर और आकर्षक है। तत्सम शब्दों का अच्छा

प्रयोग होते हुए भी उसमें तद्भव और प्रांतिक शब्दों की भरमार है। सभी स्थलों पर भाषा एक सी नहीं है। कहीं कहीं तो उसका सुचारु और संयत रूप दिखाई पड़ता है, पर कहीं कहीं अशक्त और भद्दा। ऐसी अवस्था में उनकी भाषा को 'गठीली' और 'परिमार्जित' कहना युक्तिसंगत नहीं है। भाषा में एकस्वरता का विचार अधिक रखना चाहिए। उनकी भाषा को इस विचार से देखने पर निराश होना पड़ेगा; परंतु साधारण दृष्टि से वह मुहाविरेदार और व्यावहारिक थी इसमें कोई संदेह नहीं। कहीं कहीं तो इनकी रचना आशा से अधिक संस्कृत दिखाई पड़ती है; जैसे—

"उस वन में व्याघ्र और सिंह के भय से वह अकेली कमल के समान चंचल नेत्रवाली व्याकुल हो ऊँचे स्वर से रो रो कहने लगी कि अरे विधना! तैंने यह क्या किया? और बिछुरी हुई हरनी के समान चारों ओर देखने लगी। उसी समय तक ऋषि जो सत्यधर्म में रत थे ईंधन के लिये वहाँ जा निकले।" —नासिकेतोपाख्यान

ऐसे विशुद्ध स्थल कम हैं। यह भाषा भारतेंदु हरिश्चंद्र के समीप पहुँचती दिखाई पड़ती है। इसमें साहित्य की अच्छी झलक है। भाव-व्यंजना में भी कोई बाधा नहीं दिखाई पड़ती।

ऐसे समय में—जब कि मुंशी सदासुखलाल, इंशाअल्लाखाँ, लल्लूजीलाल और सदल मिश्र गद्य का निर्माण कर रहे थे—ईसाइयों का दल अपने धर्म-प्रचार में संलग्न था। उन लोगों ने देखा कि साधारण जनता—जिसके बीच उन्हें अपने धर्म का प्रचार करना अभीष्ट था—अधिक पढ़ी-लिखी नहीं थी। उसकी बोलचाल की भाषा खड़ी बोली थी। अतएव इन ईसाई प्रचारकों ने अरबी-फारसी मिली हुई भाषा का त्याग न कर

विशुद्ध खड़ी बोली को ग्रहण किया। उन्होंने उर्दूपन को दूर कर सदासुखलाल और लल्लूजीलाल की ही भाषा को आदर्श माना। इसका भी कारण था। उन्हें विश्वास था कि मुसलमानों में वे अपने मत का प्रचार नहीं कर सकते। मुसलमान स्वयं इतने कट्टर और धर्म में दृढ़ होते हैं कि अपने धर्म के आगे वे दूसरों की नहीं सुनते। इसके अतिरिक्त शाही शासकों के अन्याय से हिंदुओं की साधारण अवस्था शोचनीय थी। वे अधिकांश रूप में दरिद्र थे, अतः आर्थिक प्रलोभन में पड़कर ईसाई-धर्म स्वीकार कर लेते थे। इन अवस्थाओं का विचार कर इन ईसाई प्रचारकों ने खड़ी बोली को ही ग्रहण किया। उन्हें मालूम था कि साधारण हिंदू जनता—जिसमें उन्हें अपने धर्म का प्रचार करना था—इसी भाषा का व्यवहार करती है।

संवत् १८७५ में जब ईसाइयों की धर्म-पुस्तक का अनुवाद हिंदी भाषा में हुआ तब देखा गया कि उसमें विशुद्ध हिंदी भाषा का ही उपयोग हुआ है। इस समय ऐसी अनेक रचनाएँ तैयार हुईं जिनमें साधारणतः ग्रामीण शब्दों को तो स्थान मिला परंतु अरबी-फारसी शब्द प्रयुक्त नहीं हुए। 'तक' के स्थान पर 'लौं', 'वक्त' के स्थान पर 'जून', 'कमरबंद' के लिये 'पटुका' का ही व्यवहार हुआ है। केवल शब्दों का ही विचार नहीं रखा गया वरन् भावभंगी और वाक्य-योजना सभी हिंदी—विशुद्ध हिंदी—की थी। एतत्कालीन ईसाई-रचनाओं में भाषा का रूप देखकर यह आशा होती थी कि भविष्य सुंदर है।

इन ईसाइयों ने स्थान स्थान पर विद्यालय स्थापित किए। उनकी स्थापित पाठशालाओं के लिये पाठ्य पुस्तकें भी सरल

परंतु शुद्ध हिंदी में लिखी गई। कलकत्ते और आगरे में ऐसी संस्थाएँ निश्चित रूप से स्थापित की गई, जिनका उद्देश ही पठन-पाठन के योग्य पुस्तकों का निर्माण करना था। इन संस्थाओं ने उस समय हिंदी का बड़ा उपकार किया। राजा शिवप्रसाद प्रभृति हिंदी के उन्नायकों के लिये अनुकूल वातावरण इन्हीं की चेष्टा से उपस्थित हुआ। इन ईसाइयों ने भूगोल, इतिहास, विज्ञान और रसायनशास्त्र प्रभृति विषयों की पुस्तकें प्रकाशित कीं। कुछ दिनों तक यही क्रम चलता रहा। अनेक विषयों में प्रयुक्त होने के कारण भाषा में व्यञ्जना-शक्ति कुछ वृद्धि पाने लगी। उसका रूप निखरने लगा और नवीन भावनाओं एवं विचारों के व्यक्त करने में अब वह समर्थ हो चली। जैसे—

"भट्ट ने पहले यह बात लिखी है कि देवताओं के कुकर्म सुकर्म हैं क्यों शास्त्र ने इनको सुकर्म ठहराया है। यह सच है परंतु हमारी समझ में इन्हीं बातों से हिंदू शास्त्र झूठे ठहरते हैं। ऐसी बातों में शास्त्र के कहने का कुछ प्रमाण नहीं। जैसे चोर के कहने का प्रमाण नहीं जो चोरी करे फिर कहे कि मैं तो चोर नहीं। पहले अवश्य है कि शास्त्र सुधारे जायँ और अच्छे अच्छे प्रमाणों से ठहराया जाय कि यह पुस्तक ईश्वर की है तब इसके पीछे उनके कहने का प्रमाण होगा। यह निश्चय जानो कि यदि ईश्वर अवतार लेता तो ऐसा कुकर्म कभी न करता और अपनी पुस्तक में कभी न लिखता कि कुकर्म सुकर्म है।"

ऊपर का उद्धृत अवतरण सन् १८०६ में प्रकाशित एक पुस्तक का है। इसकी भाषा से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि इस समय तक इसमें इतनी शक्ति आ गई थी कि वाद-विवाद चल सके। इसमें कुछ बल दिखाई पड़ता है। यह भाषा लचर

नहीं है। भावों के विस्तार के साथ साथ इसमें भाषा का उतार चढ़ाव दिखाई पड़ता है। पूरी पुस्तक इसी शैली में लिखी गई है। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि इस समय तक भाषा में एकस्वरता का विकास हो चला था। सभी विषयों की छान-बीन इसमें हुई है। अतएव यह कथन अत्युक्ति-पूर्ण न होगा कि इसकी व्यापकता बढ़ रही थी। अब यह केवल कथा-कहानी की ही भाषा न रही, वरन् तथ्यातथ्य-निरूपण, वाद-विवाद और आलोचना की भाषा भी हो चली।

ईसाइयों का प्रचार-कार्य चलता रहा। खंडन-मंडन की पुस्तकें विशुद्ध हिंदी भाषा में छपती रहीं। पठन-पाठन का कार्य आरंभ हो चुका था। पाठशालाएँ स्थापित हो चुकी थीं। इन संस्थाओं में पढ़ाने के लिये पुस्तकें भी लिखी जा रही थीं। इस प्रकार व्यापक रूप में न सही, पर संतोषप्रद रूप में इसके लिये प्रयास किया जा रहा था। इसी समय सरकार ने भी मदरसे स्थापित करने का आयोजन आरंभ किया। नगरों के अतिरिक्त गाँवों में भी पढ़ाने-लिखाने की व्यवस्था होने लगी। इन सरकारी मदरसों में अँगरेजी के साथ साथ हिंदी-उर्दू को भी स्थान प्राप्त हुआ।

उर्दू

यह आरंभ में ही लिखा जा चुका है कि जिस समय मुसलमान लेखकों ने कुछ लिखना प्रारंभ किया उस समय ब्रजभाषा और अवधी में ही उन लोगों ने अपने अपने काव्यों की रचना की। इसके बाद कुछ लोगों ने खड़ी बोली में रचनाएँ प्रारंभ कीं। पहले किसी में भी यह धारणा न थी कि इसी हिंदी के ढाँचे में अरबी-फारसी की शब्दावली का सम्मिश्रण कर एक नवीन क़ामचलाऊ भाषा का निर्माण कर

लें। परंतु आगे चलकर अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग खड़ी बोली में क्रमशः वृद्धि पाने लगा। शब्दों के अतिरिक्त मुहाविरे, भावव्यंजना तथा वाक्य-रचना का ढंग भी धीरे धीरे परिवर्तित हो गया। अब तो यह अवस्था दिखाई देती है कि फारसी के व्याकरण के अनुसार शब्दों का नियंत्रण भी आरंभ हो गया है (काग़ज़ात, मकानात और शाहेनहाँ)। खड़ी बोली के इसी परिवर्तित रूप को मुसलमानों ने उर्दू के नाम से प्रतिष्ठित किया। ये लोग कहने लगे कि इस भाषा-विशेष का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है।

उर्दू की व्यापकता

पहले अदालतों में विशुद्ध फारसी भाषा का प्रयोग होता था। पश्चात् "सरकार की कृपा से खड़ी बोली का अरबी-फारसीमय रूप लिखने-पढ़ने की अदालती भाषा होकर सबके सामने आया"। वास्तव में खड़ी बोली की उन्नति को इस परिवर्तन से बड़ा व्याघात पहुँचा। अदालत के कार्यकर्त्ताओं के लिये इस नवाविष्कृत गढ़ंत भाषा का अध्ययन अनिवार्य हो गया, क्योंकि इसके बिना उनका पेट चलाना दुष्कर हो गया। इस विवशता से उर्दू कही जानेवाली खिचड़ी भाषा की व्यापकता बढ़ने लगी। अब एक विचारणीय प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि सरकारी मदरसों में नियुक्त पाठ्य-ग्रंथों का निर्माण किस भाषा में हो; हिंदी की खड़ी बोली में हो अथवा अरबी-फारसी-मय नवीन रूपधारिणी उर्दू नाम से पुकारी जानेवाली इस खिचड़ी भाषा में।

काशी के राजा शिवप्रसाद इस समय शिक्षा-विभाग में निरीक्षक के पद पर नियुक्त थे। वे हिंदी के उन हितैषियों में

राजा शिवप्रसाद

से थे जो लाख विघ्न, बाधाओं तथा अड़चनों के उपस्थित होने पर भी भाषा के उद्धार के लिये सदैव प्रयत्नशील रहे। इस

राजा शिवप्रसाद

हिंदी-उर्दू के झगड़े में राजा साहब ने बड़ा योग दिया। उनकी स्थिति बड़ी विचारणीय थी। उन्होंने देखा कि शिक्षा-विभाग में मुसलमानों का दल अधिक शक्तिशाली है। अतः उन्होंने किसी एक पक्ष का स्वतंत्र समर्थन न कर मध्यवर्ती मार्ग का अवलंबन किया। पढ़ने के लिये पुस्तकों का अभाव देखकर राजा साहब ने स्वयं तो लिखना आरंभ ही किया, साथ ही अपने मित्रों को भी प्रोत्साहन देकर इस कार्य में संयोजित किया। "राजा साहब जी जान से इस उद्योग में थे कि लिपि देवनागरी हो और भाषा ऐसी मिलीजुली रोजमर्रा की बोलचाल की हो कि किसी दलवाले को एतराज न हो।"

इसी विचार से प्रेरित हो उन्होंने अपनी पहले की लिखी पुस्तकों में भाषा का मिला-जुला रूप रखा। लोगों का यह कहना कि "राजा साहब की भाषा वर्तमान भाषा से बहुत मिलती है, केवल यह साधारण बोलचाल की ओर अधिक झुकती है और उसमें कठिन संस्कृत अथवा फारसी के शब्द नहीं हैं" उनकी संपूर्ण रचनाओं पर नहीं चरितार्थ होता। उनकी पहले की भाषा अवश्य मध्यवर्ती मार्ग की थी। इसके अनुसार उन्होंने स्थान स्थान पर साधारण उर्दू, फारसी तथा अरबी के शब्दों का भी प्रयोग किया है। साथ ही संस्कृत के चलते और साधारण प्रयोगों में आनेवाले तत्सम शब्दों को भी उन्होंने लिया है। इसके अतिरिक्त 'लेवे' ऐसे पंडिताऊ रूप भी वे रख देते थे। देखिए—"सिवाय इसके मैं तो

आप चाहता हूँ कि कोई मेरे मन की थाह लेवे और अच्छी तरह से जाँचे। मारे व्रत और उपवासों के मैंने अपना फूल सा शरीर काँटा बनाया, ब्राह्मणों को दान दक्षिणा देते देते सारा खजाना खाली कर डाला, कोई तीर्थ बाकी न रखा, कोई नदी तालाब नहाने से न छोड़ा, ऐसा कोई आदमी नहीं कि जिसकी निगाह में मैं पवित्र पुण्यात्मा न ठहरूँ।" (कुछ दिन लिखने पढ़ने के उपरांत राजा साहब के विचार बदलने लगे और अंत में आते आते वे हमें उस समय के एक कट्टर उर्दू-भक्त के रूप में दिखाई पड़ते हैं। उस समय उनमें न तो वह मध्यम मार्ग का सिद्धांत ही दिखाई पड़ता है और न विचार ही। उस समय वे निरे उर्दूदाँ बने दिखाई पड़ते हैं। भाव-प्रकाशन की विधि, शब्दावली और वाक्य-विन्यास आदि सभी उनके उर्दू ढाँचे में ढले दिखाई पड़ते हैं) जैसे—

"इसमें अरबी, फ़ारसी, संस्कृत और अब कहना चाहिए अँगरेजी के भी शब्द कंधे से कंधा भिड़ाकर यानी दोश-बदोश चमक दमक और रौनक पावें, न इस बेतर्तीबी से कि जैसा अब गड़बड़ मच रहा है, बल्कि एक सल्तनत के मानिंद कि जिसकी हदें कायम हो गई हों और जिसका इंतिज़ाम मुंतज़िम की अक्लमंदी की गवाही देता है"।

क्या घोर परिवर्तन है! कितना उथल-पथल है!! एक शैली पूरब को जाती है तो दूसरी बेलगाम पच्छिम को भागी जा रही है। उपर्युक्त अवतरण में हिंदीपन का आभास ही नहीं मिलता। 'न इस बेतर्तीबी से कि' से तथा—अन्य स्थान में प्रयुक्त—'तरीका उसका यह रक्खा था', 'दिन दिन बढ़ावें प्रताप उसका' से वही गंध आती है जो पहले इंशाअल्लाखाँ की वाक्य-रचना में आती थी। इसके अतिरिक्त उर्दू लेखकों

राजा लक्ष्मणसिंह

के अनुसार वे 'पूँजी हासिल करना चाहिए' ही लिखा करते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजा साहब 'सितारेहिंद' से 'सितार-ए-हिंद' बन गए थे।

राजा शिवप्रसाद की इस शैली का विरोध प्रत्यक्ष रूप में राजा लक्ष्मणसिंह ने किया। ये महाशय यह दिखाना चाहते थे कि बिना मुसलमानी व्यवस्था के भी खड़ी बोली का अस्तित्व स्वतंत्र रूप से रह सकता है। उनके विचार से "हिंदी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी" थीं। इन दोनों का सम्मेलन किसी प्रकार नहीं हो सकता—यही उनकी पक्की धारणा थी। बिना उर्दू की दलदल में फँसे भी हिंदी का बहुत सुंदर गद्य लिखा जा सकता है। इस बात को उन्होंने स्वयं सिद्ध कर दिया है। उनके जो दो अनुवाद लिखे गए और छपे हैं उनकी भी "भाषा सरल एवं ललित है और उसमें एक विशेषता यह भी है कि अनुवाद शुद्ध हिंदी में किया गया है। यथासाध्य कोई शब्द फारसी-अरबी का नहीं आने पाया है।" "इस पुस्तक की बड़ी प्रशंसा हुई और भाषा के संबंध में मानो फिर से लोगों की आँखें खुलीं।"

राजा लक्ष्मणसिंह

पूर्व के लेखकों में भाषा का परिमार्जन नहीं हुआ था। वह आरंभ की अवस्था थी। उस समय न कोई शैली थी और न कोई विशेष उद्देश्य ही था। जो कुछ लिखा गया उसे काल की प्रगति एवं व्यक्ति-विशेष की रुचि समझनी चाहिए। उस समय तक भाषा का कोई रूप भी निश्चित नहीं हुआ था। न उसमें कोई स्थिरता ही आई थी। उस समय 'मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना' थी। इसके सिवा सितार-ए-हिंद साहब अपनी

दोरंगी दुनिया के साथ मैदान में हाज़िर हुए। इनकी चाल दोरुखी रही। अतः इनकी इस दोरुख़ी चाल के कारण भाषा अव्यवस्थित ही रह गई। उसका कौन सा रूप स्थिर माना जाय, इसका पता लगाना कठिन था।

भाषा के एक निश्चयात्मक रूप का सम्यक् प्रसार हम राजा लक्ष्मणसिंह की रचना में पाते हैं। कुछ शब्दों के रूप चाहे बेढंगे भले ही हों पर भाषा उनकी एक ढर्रे पर चली है। ["मैंने इस दूसरी बार के छापे में अपने जाने सब दोष दूर कर दिए हैं;" तथा 'जिन्ने', 'सुन्ने', 'इस्से', 'उस्से', 'वहाँ जानो कि', 'जान्ना', 'मान्नी' इत्यादि प्रांतिक रूप भी उनकी भाषा में पाए जाते हैं। 'मुझे' (मुझमें), 'यह तो' (इतना तो), 'तुझै' (तुझको अथवा तुमको), 'लिवाने' आदि सरीखे प्राचीन रूप भी प्राप्त होते हैं। उन्होंने कहावत के स्थान पर 'कहनावत' का प्रयोग किया है। 'अवश्य' सदैव 'आवश्यक' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। इतना सब होते हुए भी भाषा अपने स्वाभाविक मार्ग पर चली है।]

जितना पुष्ट और व्यवस्थित गद्य हमें उनकी रचना में मिलता है उतना पूर्व के किसी भी लेखक की रचना में नहीं उपलब्ध हुआ था। गद्य के इतिहास में इतनी स्वाभाविक विशुद्धता का प्रयोग उस समय किसी ने नहीं किया। इस दृष्टि से राजा लक्ष्मणसिंह का स्थान तत्कालीन गद्य-साहित्य में सर्वोच्च है। यदि राजा साहब विशुद्धता लाने के लिये बद्ध-परिकर होने में कुछ भी आगापीछा करते तो भाषा का आज कुछ और ही रूप रहता। जिस समय उन्होंने यह उत्तर-दायित्व अपने सिर पर लिया गद्य-साहित्य के विकास में वह

भारतेंदु हरिश्चंद्र

समय परिवर्त्तन का था। उस समय की रंच मात्र की असावधानी भी एक बड़ा अनर्थ कर सकती थी। इनकी रचना में हमें जो गद्य का निखरा रूप प्राप्त होता है वह एकांत उद्योग और कठिन तपस्या का प्रतिफल है। राजा साहब की भाषा का कुछ नमूना उद्धृत किया जाता है:—

"याचक तो अपना अपना वांछित पाकर प्रसन्नता से चले जाते हैं परंतु जो राजा अपने अंतःकरण से प्रजा का निर्धार करता है नित्य वह चिंता ही में रहता है। पहले तो राज बढ़ाने की कामना चित्त को खेदित करती है फिर जो देश जीतकर वश किए उनकी प्रजा के प्रतिपालन का नियम दिन रात मन को विकल रखता है जैसे बड़ा छत्र यद्यपि घाम से रक्षा करता है परंतु बोझ भी देता है।"

हरिश्चंद्र

इस समय तक हम देख चुके हैं कि गद्य में दो प्रधान शैलियाँ उपस्थित थीं। एक तो अरबी-फारसी के शब्दों से भरी-पुरी खिचड़ी थी जिसके प्रवर्तक राजा शिवप्रसादजी थे और दूसरी विशुद्ध हिंदी की शैली थी जिसके समर्थक और उन्नायक राजा लक्ष्मण-सिंह थे। अभी तक यह निश्चय नहीं हो सका था कि किस शैली का अनुकरण कर उसकी वृद्धि करनी चाहिए। स्थिति विचारणीय थी। इस उलझन को सुलझाने का भार भारतेंदु हरिश्चंद्र पर पड़ा। बाबू साहब हिंदू-मुसलमानों की एकता के इतने एकांत भक्त न थे। वे नहीं चाहते थे कि एकता की सीमा यहाँ तक बढ़ा दी जाय कि हम अपनी मातृ-भाषा का अस्तित्व ही मिटा दें। वे राजा शिवप्रसादजी की उर्दूमय शैली को देखकर बड़े दुःखित होते थे। उनका विचार था कि एक ऐसी परिमार्जित और व्यवस्थित भाषा का निर्माण हो

जो पठित समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त कर आदर्श का स्थान ग्रहण कर सके। इस विचार से प्रेरित होकर बाबू साहब इस कार्य के संपादन में आगे बढ़े और घोर उद्योग के पश्चात् अंततोगत्वा उन्होंने भाषा को एक व्यवस्थित रूप दे ही डाला। भारतेंदु के इस अथक उद्योग के पुरस्कार-स्वरूप यदि उन्हें 'गद्य का जन्मदाता' कहें तो अनुचित न होगा।

उन्होंने समझ लिया कि एक ऐसे मार्ग का अवलंबन करना समीचीन होगा जिसमें सब प्रकार के लेखकों को सुविधा हो। उन्हें दिखाई पड़ा कि न तो उर्दू के तत्सम शब्दों से भरी तथा उर्दू वाक्य-रचना-प्रणाली से पूर्ण शैली ही सर्व-मान्य हो सकती है और न संस्कृत के तत्सम शब्दों से भरी-पुरी प्रणाली ही सर्वत्र प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकती है। अतः इन दोनों प्रणालियों की मध्यस्थ शैली ही इस कार्य के लिये सर्वथा उपयुक्त होगी। इसमें किसी को असंतोष का कारण न मिलेगा और इसलिये वह सर्वमान्य हो जायगी। अतः उन्होंने इन दोनों शैलियों का सम्यक् संस्कार कर एक अभूत रचना-प्रणाली का रूप स्थिर किया। यह उसका बहुत ही परिमार्जित और निखरा रूप था। "भाषा का यह निखरा हुआ शिष्ट सम्मान्य रूप भारतेंदु की कला के साथ ही प्रकट हुआ"। इसी मध्यम मार्ग का सिद्धांत उन्होंने अपनी सभी रचनाओं में रखा है। हम यदि केवल इनकी गद्य-शैली के नवीन और स्थिर स्वरूप का ही विचार करें तो "वर्तमान हिंदी की इनके कारण इतनी उन्नति हुई कि इनको इसका जन्मदाता कहने में भी कोई अत्युक्ति न होगी"। इस मध्यम मार्ग के अवलंबन का फल यह हुआ कि भारतेंदु की साधारणतः सभी रचनाओं

में उर्दू के तत्सम शब्दों का व्यवहार नहीं मिलता। अरबी-फारसी के शब्द प्रयुक्त हुए हैं पर बहुत चलते। ऐसे शब्द जहाँ कुछ विकृत रूप में पाए गए वहाँ उसी रूप में रखे गए, राजा शिवप्रसाद की भाँति तत्सम रूप में नहीं। 'लोहू', 'कफन', 'कलेजा', 'जाफत', 'खज़ाना', 'जवाब' के नीचे नुकते का न लगाना ही इस कथन का प्रमाण है। 'जंगल', 'मुर्दा', 'मालूम', 'हाल', ऐसे चलते शब्दों का उन्होंने बराबर उपयोग किया है। दूसरी ओर संस्कृत शब्दों के तद्भव रूपों का भी बड़ी सुंदरता से व्यवहार किया गया है। इसमें उन्होंने बोल-चाल के व्यावहारिक रूपों का विशेष ध्यान रखा है। उनके प्रयुक्त शब्द इतने चलते हैं कि आज भी हम लोग अपनी नित्य की भाषा में उनका प्रयोग उन्हीं रूपों में करते हैं। वे न तो भद्दे ही ज्ञात होते हैं और न उनके प्रयोग में कोई अड़चन ही उपस्थित होती है। 'भलेमानस', 'हिया', 'गुनी', 'आपुस', 'लच्छन', 'जोतसी', 'आँचल', 'जोबन', 'अगनित', 'अचरज' इत्यादि शब्द कितने मधुर हैं। उनके ये रूप कानों को किंचित् मात्र भी अखरनेवाले नहीं हैं। इनका प्रयोग बड़ी ही सुंदरता से किया गया है। इन तद्भव रूपों के प्रयोग से भाषा में कहीं शिथिलता या न्यूनता आ गई हो यह बात भी नहीं है, वरन् इसके विपरीत भाषा और भी व्यावहारिक और मधुर हो गई। इसके अतिरिक्त इनका प्रयोग इतने सामान्य और चलते ढंग से हुआ है कि रचना की अधिकता में इनका पता नहीं लगता। इस प्रकार बाबू साहब ने दोनों शैलियों के बीच एक ऐसा सफल सामंजस्य स्थापित किया कि भाषा में एक नवीन जीवन आ गया और इसका रूप और भी

व्यावहारिक और सरल हो गया। यह भारतेंदु की नई उद्भावना थी।

(लोकोक्तियों और मुहावरों से भाषा में शक्ति और चमक उत्पन्न होती है इसका ध्यान भारतेंदु ने अपनी रचना में बराबर रखा है, क्योंकि इनकी उपयोगिता उनसे छिपी न थी। इनका प्रयोग इतनी मात्रा में हुआ है कि भाषा में बल आ गया है। 'गूँगे का गुड़', 'मुँह देखकर जीना', 'वैरी की छाती ठंढी होना', 'अंधे की लकड़ी', 'कान न दिया जाना', 'झख मारना' इत्यादि अनेक मुहावरों का प्रयोग स्थान स्थान पर बड़ी सुंदरता से किया है। यही कारण है कि उनकी भाषा इतनी शक्तिशालिनी और जीवित दिखाई पड़ती है। भाव-व्यंजना में भी इन लोकोक्तियों के द्वारा बहुत कुछ सरलता उत्पन्न हो गई है। उनकी लोकोक्तियों में कहीं भी अभद्रता नहीं आने पाई है, जैसा कि हम पंडित प्रतापनारायणजी मिश्र की भाषा में पाते हैं। जहाँ लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग हुआ है वहाँ शिष्ट और परिमार्जित रूप में। उनकी शैली में नागरिकता की झलक सदैव वर्तमान रहती थी।)

इन विशेषताओं के साथ साथ उनमें कुछ पंडिताऊपन का भी आभास मिलता है, पर उनकी रचनाओं के विस्तार में इसका कुछ पता नहीं ('भई' (हुई), 'करके' (कर), 'कहाते हैं' (कहलाते हैं), 'ढकौ' (ढको), 'सो' (वह), 'होई' (होही), 'सुनै', 'करै' आदि में पंडिताऊपन, अवधीपन या ब्रजभाषापन की झलक भी मिलती है।) इस त्रुटि के लिये हम उन्हें दोषी नहीं ठहरा सकते; क्योंकि उस समय तक न तो कोई आदर्श ही उपस्थित हुआ था और न भाषा का कोई व्यवस्थित रूप

ही। ऐसी अवस्था में इन साधारण विषयों का सम्यक् पर्य्या-लोचन हो ही कैसे सकता था ? इसके अतिरिक्त कुछ व्याकरण संबंधी भूलें भी उनसे हुई हैं। स्थान स्थान पर 'विद्यानुरागिता' (विद्यानुराग के लिये), 'श्यामताई' (श्यामता) पुल्लिंग में, 'अधीरजमना' (अधीरमना), 'कृपा किया है' (कृपा की है), 'नाना देश में' (नाना देशों में) व्यवहृत दिखाई पड़ते हैं इसके लिये भी उनको विशेष दोष नहीं दिया जा सकता है क्योंकि उस समय तक व्याकरण संबंधी विषयों का विचार हुआ ही न था। जितनी कहा-सुनी इस विषय पर पीछे चलकर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय में हुई उस समय तक नहीं हुई थी। इस दृष्टि से भाषा का परिमार्जन होना आगे के लिये बचा रहा। इसके अतिरिक्त एक कारण यह भी था कि उन्हें अपने जीवन में इतना लिखना था कि उसी में वे व्यस्त थे। इन त्रुटियों की ओर ध्यान देना उनके लिये नितांत असंभव था। कार्य-विस्तार के कारण उनका ध्यान इन विचारणीय विषयों की ओर नहीं जा सका।

कार्यभार इस बात का था कि अभी तक भाषा-साहित्य के कई विषयों का—जो साहित्य के आवश्यक अंग थे—आरंभ तक न हुआ था और उनकी दृष्टि बड़ी व्यापक थी। उन्हें भाषा-साहित्य के सब अंगों पर कुछ कुछ मसाला उपस्थित करना आवश्यक था, (क्योंकि अभी तक गद्य-साहित्य का विकास इस विचार से हुआ ही न था कि मानव-जीवन के सब प्रकार के भावों का प्रकाशन उसमें हो। अभी तक लिखनेवाले गंभीर मुद्रा ही में बोलते थे। हास्य-विनोद के मनोरंजक साहित्य का निर्माण भी समाज के लिये आवश्यक

है इस ओर उनके पूर्व के लेखकों का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ था। "हिंदी लेखकों में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने ही पहले-पहल गद्य की भाषा में हास्य और व्यंग्य का पुट दिया।" इस प्रकार की रचना का श्रीगणेश कर उन्होंने बड़ा ही स्तुत्य कार्य किया, क्योंकि इससे भाषा-साहित्य में रोचकता उत्पन्न होती है। जिस प्रकार प्रचुर मात्रा में मिष्टान्नभोजी को मिष्टान्न भक्षण की रुचि को स्थिर रखने तथा बढ़ाने के लिये बीच बीच में चटनी की आवश्यकता पड़ती है, ठीक उसी प्रकार गंभीर भाषा-साहित्य की चिरस्थायिता तथा विकास के लिये मनोरंजक साहित्य का निर्माण नितांत आवश्यक है। चटनी के अभाव में जैसे सेर भर मिठाई खानेवाला व्यक्ति आध सेर, ढाई पाव ही खाने पर घबड़ा उठता है और भूख रहने पर भी जी के ऊब जाने से वह अपना पूरा भोजन नहीं कर सकता, उसी प्रकार सदैव गंभीर साहित्य का अध्ययन करते करते जनसमाज का चित्त ऊब उठता है। ऐसी अवस्था में वह 'मनफेर' का मसाला न पाकर दूसरी भाषाओं का मुखापेक्षी बनता है। उसमें एक प्रकार की नीरसता आ जाती है। हास्य-प्रधान साहित्य के विकास का ध्यान रखकर ही उन्होंने 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' ऐसे लेखों का प्रकाशन किया है। स्वप्न में आपने एक "गगनगत अविद्या-वरुणालय" की स्थापना की। उस अविद्या-वरुणालय की नियमावली सुनाते सुनाते आप हाज़रीन जलसह से फरमाते हैं—"अब आप सज्जनों से यही प्रार्थना है कि आप अपने अपने लड़कों को भेजें और व्यय आदि की कुछ चिंता न करें क्योंकि प्रथम तो हम किसी अध्यापक को मासिक देंगे नहीं और दिया भी तो अभी दस

पाँच वर्ष पीछे देखा जायगा। यदि हमको भोजन की श्रद्धा हुई तो भोजन का बंधान बाँध देंगे, नहीं, यह नियत कर देंगे कि जो पाठशाला संबंधी द्रव्य हो उसका वे सब मिलकर 'नास' लिया करें। अब रहे केवल पाठशाला के नियत किए हुए नियम सो आपको जल्दी सुनाए देता हूँ। शेष स्त्री-शिक्षा का जो विचार था वह आज रात को हम घर पूँछ लें तब कहेंगे।" भाषा भाव के अनुरूप चलती है। भावों के व्यक्त करने की प्रणाली के साथ साथ भाषा-शैली भी अपने में रूपांतर करती है। 'बंधान बाँध देंगे', 'सब मिलकर नास लिया करें'; 'घर पूँछ लें', इत्यादि में प्रकाशन-प्रणाली की विचित्रता के अतिरिक्त शब्द-संचयन में भी एक प्रकार का भाव-विशेष छिपा है। इसी लिये कहा जाता है कि विषय का प्रभाव भाषा पर पड़ता है। ठीक यही अवस्था भारतेंदु की उस भाषा की हुई है जिसका प्रयोग उन्होंने अपने गवेषणापूर्वक मनन किए हुए तथ्यातथ्य-निरूपण में किया है। भाव-गांभीर्य के साथ साथ भाषा-गांभीर्य का आ जाना नितांत स्वाभाविक है। जब किसी ऐसे मननशील विषय पर उन्हें लिखने की आवश्यकता पड़ी है जिसमें सम्यक् विवेचन अपेक्षित था तब उनकी भाषा भी गंभीर हो गई है। ऐसी अवस्था में यदि भाषा का चटपटापन जाता रहे और उसमें कुछ नीरसता आ जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इस प्रकार की भाषा का प्रमाण हमें उनके उस लेख में मिलता है जो उन्होंने 'नाटक-रचना-प्रणाली' पर लिखा अथवा लिखवाया है। उसका थोड़ा सा अंश हम उदाहरणार्थ उद्धृत करते हैं :—

'मनुष्य लोगों की मानसिक वृत्ति परस्पर जिस प्रकार अदृश्य है हम लोगों के हृदयस्थ भाव भी इसी रूप अप्रत्यक्ष हैं, केवल बुद्धि वृत्ति की परिचालना द्वारा तथा जगत् के कतिपय वाह्य कार्य पर सूक्ष्म दृष्टि रख-कर इसके अनुशीलन में प्रवृत्त होना पड़ता है। और किसी उपकरण द्वारा नाटक लिखना कलम मारना है।"

इस लेख की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। तद्भव शब्दों का प्राय: लोप सा है। वाक्य-रचना भी दुरूहता से वरी नहीं है। भारतेंदु की साधारण भाषा से इस लेख की भाषा की भिन्नता स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। यह भाषा उनकी स्वाभाविक न होकर बनावटी हो गई है। इसमें मध्यम मार्ग का सिद्धांत नहीं दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त उनकी साधारण भाषा में जो व्यावहारिकता मिलती है वह भी इसमें नहीं प्राप्त होती। उनकी अन्य रच-नाओं में एक प्रकार की स्निग्धता और चलतापन दिखाई पड़ता है। उनका शब्द-चयन भी सरल और प्रचलित है। जैसे—

"संसार के जीवों की कैसी विलक्षण रुचि है। कोई नेम धर्म में चूर है, कोई ज्ञान के ध्यान में मस्त है, कोई मतमतांतर के झगड़े में मतवाला हो रहा है। हर एक दूसरे को दोष देता है अपने को अच्छा समझता है। कोई संसार को ही सर्वस्व मानकर परमार्थ से चिढ़ता है। कोई परमार्थ को ही परम पुरुषार्थ मानकर घर-बार तृण सा छोड़ देता है। अपने अपने रंग में सब रँगे हैं; जिसने जो सिद्धांत कर लिया है, वही उसके जी में गड़ रहा है और उसी के खंडन-मंडन में वह जन्म बिताता है।" यही उनकी वास्तविक शैली है। भाषा का कितना परिमार्जित और व्यवस्थित रूप है। इसी में

मध्यम मार्ग का अवलंबन स्पष्ट लक्षित होता है। इसमें भाषा का प्रौढ़ रूप है, वाक्य-रचना भली भाँति गढ़ी हुई और मुहावरेदार है। इसमें आकर्षण भी है और चलतापन भी। छोटे छोटे वाक्यों में कितनी शक्ति होती है इसका पता इस उद्धरण से स्पष्ट लग जाता है।

अब हमें साधारण रीति से यह विचार करना है कि भाव-शैली के विकास में उनका कितना हाथ है। कुछ लोगों का यह कहना कि उन्होंने जन-साधारण की रुचि एकदम उर्दू की ओर से हटाकर हिंदी की ओर प्रेरित कर दी थी अंशतः भ्रामक है, क्योंकि उन्होंने 'एकदम' नहीं हटाया। सम्यक् विवेचन करने पर यही कहना पड़ता है कि उन्होंने किसी भाषा विशेष का तिरस्कार मध्यम मार्ग का अवलंबन करने पर भी नहीं किया। उन्होंने यही किया कि परिमार्जन एवं शुद्धि करके दूसरे की वस्तु को अपनी बना लो। इसमें वे विशेष कुशल और समर्थ थे। गद्य की एक पुष्ट नींव डालने से अपने आप ही लोगों की प्रवृत्ति राजा शिवप्रसादजी की अरबी-फारसी मिश्रित हिंदी लेखन-प्रणाली की ओर से हट गई; और उन्हें विश्वास हो गया कि हिंदी में भी वह ज्योति और जीवन वर्त्तमान है जो अन्यान्य जीवित भाषाओं में दृष्टि-गोचर होता है। हाँ उसका उद्योगशील विकास एवं परिमार्जन आवश्यक है। इसके अतिरिक्त यह कहना कि "गद्यशैली को विषयानुसार बदलने का सामर्थ्य उनमें कम था" ध्रुव सत्य नहीं है। उनका ध्यान इस विषय विशेष की ओर था ही नहीं, अन्यथा यह कोई बड़ी बात नहीं थी। यदि वे केवल इसी के विचार में रहते तो आज ऐसा कहने का अवसर उप-

स्थित न होता। उनका ध्यान एक साथ ही इतने अधिक विषयों की ओर था कि सबका एक सा उतरना असंभव था। स्वभावतः जिन विषयों का अभी उन्हें आरंभ करना था अथवा जिन विषयों पर उन्होंने कम लिखा उन विषयों के उपयुक्त भाषा का सम्यक् निर्धारण वे न कर सके। उनके सामने अच्छे आदर्श भी उपस्थित न थे। फिर अपनी रचना का वे स्वयं तुलनात्मक विवेचन करते इसका उन्हें अवसर ही न था। अतएव उन्हें इसके लिये दोषी ठहराना अन्याय है।

भारतेंदुजी की गद्य-शैली एक नवीन वस्तु थी। इस समय उन्होंने भाषा का एक परिमार्जित और चलता रूप स्थिर किया था। उनका महत्त्व इसी में है कि उन्होंने गद्य-शैली को "अनिश्चितता के कर्दम से निकालकर एक निश्चित दशा में रखा"। इसके लिये एक ऐसे ही शक्तिशाली लेखक की आवश्यकता थी और उसकी पूर्ति उनकी लेखनी से हुई। भारतेंदु के ही जीवन-काल में कई विषयों पर लोगों ने लिखना आरंभ कर दिया था। उनके समय तक इतिहास, भूगोल, विज्ञान, वेदांत इत्यादि आवश्यक विषयों के कतिपय ग्रंथों का निर्माण भी हो चुका था। अनेक पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हो रही थीं। उत्तरी भारत में हिंदी का प्रसार दिन दूना रात चौगुना बढ़ रहा था। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण था कि अब हिंदी भाषा की व्यापकता बढ़ती जा रही थी। उसमें बल आ रहा था। भाव-प्रकाशन में शब्दों की न्यूनता दिन पर दिन दूर होती जा रही थी; किसी भी विषय और ज्ञान विशेष पर लिखते समय भाव-व्यंजन में ऐसी कोई अड़चन नहीं उत्पन्न होती थी जिसका दोष भाषा की निर्बलता को

दिया जा सकता। इस समय तक लोगों ने अनेक स्वतंत्र विषयों पर लिखना प्रारंभ कर दिया था। उन्हें आधार की कोई आवश्यकता न रह गई थी। बाबू हरिश्चंद्र ने भाषा का रूप स्थिर कर दिया था। अब भाषा और गद्य-साहित्य के विकास की आवश्यकता थी। ज्ञान का उदय हो चुका था, अब उसे परिचित रूप में लाना रह गया था। इस कार्य का संपादन करने के लिये एक दल भारतेंदुजी की उपस्थिति में ही उत्पन्न हो चुका था। [पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित बदरी-नारायण चौधरी, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, लाला श्रीनिवास-दास, ठाकुर जगमोहनसिंह प्रभृति लेखक साहित्य-क्षेत्र में अव-तीर्ण हो चुके थे] उस समय के अधिकांश लेखक किसी न किसी पत्र-पत्रिका का संपादन कर रहे थे। इन पत्र-पत्रि-काओं और इन लेखकों की प्रतिभाशाली रचनाओं से भाषा में सजीवता और प्रौढ़ता आने लगी थी। उस समय जितने लेखक लिख रहे थे उनमें कुछ न कुछ शैली विषयक विशेषता स्पष्ट दिखाई पड़ती थी।

यों तो सभी विषयों पर कुछ न कुछ लिखा जा रहा था। परंतु निबंध-रचना का स्वच्छ और परिष्कृत रूप भट्टजी तथा मिश्रजी ने उपस्थित किया। इन लोगों ने छोटे छोटे विषयों पर अपने स्वतंत्र विचार लिपिबद्ध किए। इस प्रकार निबंध-रचना का भी हिंदी-गद्य में आरंभ हुआ। इन लोगों के निबंध वास्तव में निबंध की कोटि में आते हैं। पर अभी तक उनमें वैयक्तिक अनुभूति की सम्यक् व्यंजना नहीं होती थी। यह आरंभिक काल था अतः पुष्टता का अभाव रहना स्वाभाविक ही था। रचना का यह प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धि पाता गया और अविरत

रूप में आज तक चला आ रहा है। इसमें क्रमशः अनुभूति-व्यंजन और तर्क का रूप विकसित होने लगा।

जिस समय पंडित बालकृष्ण भट्ट ने लिखना आरंभ किया था उस समय तक लेखन-प्रणाली में तीन प्रकार की भाषाओं का उपयोग होता था—एक तो वह जिसके प्रवर्तक राजा शिवप्रसादजी थे

बालकृष्ण भट्ट

और जिसमें उर्दू शब्द तत्सम रूप में ही प्रयुक्त होते थे; दूसरा वह जिसमें अन्य भाषाओं के शब्दों का संपूर्ण वहिष्कार ही समीचीन माना जाता था और जिसके उन्नायक राजा लक्ष्मण-सिंह थे; तीसरा रूप वह था जिसका निर्माण भारतेंदुजी ने किया और जिसमें मध्यम मार्ग का अवलंबन किया जाता था। इसमें शब्द तो उर्दू के भी लिए जाते थे परंतु वे या तो बहुत चलते होते थे या विकृत होकर हिंदी बने हुए। भट्टजी उर्दू शब्दों का प्रयोग प्रायः करते थे और वह भी तत्सम रूप में। ऐसी अवस्था में हम उन्हें शुद्धिवादियों में स्थान नहीं दे सकते। कहीं कहीं तो वे हमें राजा शिवप्रसाद के रूप में मिलते हैं। जैसे :—

"मृतक के लिये लोग हज़ारों लाखों खर्च कर आलीशान रौज़े मक़बरे क़ब्रें संगमर्मर या संगमूसा की बनवा देते हैं, क़ीमती पत्थर माणिक ज़मुर्रद से उन्हें आरास्ता करते हैं पर वे मक़बरे क्या उसकी रूह को उतनी राहत पहुँचा सकते हैं जितनी उसके दोस्त आँसू टपकाकर पहुँचाते हैं ?"

उन्हें भाषा को व्यापक बनाने की विशेष चिंता थी। यह बात उनकी रचनाओं को देखने से स्पष्ट प्रकट होती है। अँगरेजी राज्य के साथ साथ अँगरेजी सभ्यता और भाषा का प्राबल्य बढ़ता ही जाता था। उस समय एक नवीन समाज

पंडित बालकृष्ण भट्ट

उत्पन्न हो रहा था। अतएव एक ओर तो हिंदी शब्दकोश की अव्यावहारिकता और दूसरी ओर नवीन भावों के प्रकाशन की आवश्यकता ने उन्हें यहाँ तक उत्साहित किया कि स्थान स्थान पर वे भावद्योतन की सुगमता के विचार से अँगरेजी के शब्द ही उठाकर रख देते थे, जैसे Character, Feeling, Philosophy, Speech आदि। यहीं तक नहीं, कभी कभी शीर्षक तक अँगरेज़ी के दे देते थे। इसके अतिरिक्त उनकी रचना में स्थान स्थान पर पूर्वी ढंग के 'समझाय, बुझाय' आदि प्रयोग तथा 'अधिकाई' जैसे रूप भी दिखाई पड़ते हैं।

इस समय के प्रायः सभी लेखकों में एक बात सामान्य रूप में पाई जाती है। वह यह कि सभी की शैलियों में उनके व्यक्तित्व की छाप मिलती है। पंडित प्रतापनारायण मिश्र और भट्टजी में यह बात विशेष रूप से थी। उनके शीर्षकों और भाषा की भावभंगी से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह उन्हीं की लेखनी है। भट्टजी की भाषा में मिश्रजी की भाषा की अपेक्षा नागरिकता की मात्रा कहीं अधिक पाई जाती है। उनकी 'हिंदी भी अपनी ही हिंदी थी'। इसमें बड़ी रोचकता एवं सजीवता थी। कहीं भी मिश्रजी की ग्रामीणता की झलक उसमें नहीं मिलती। उनका वायुमंडल साहित्यिक था। विषय और भाषा से संस्कृति टपकती है। मुहावरों का बहुत ही सुंदर प्रयोग हुआ है। स्थान स्थान पर मुहावरों की लड़ी सी गुथी दिखाई पड़ती है। इन सब बातों का प्रभाव यह पड़ा कि भाषा में कांति, ओज और आकर्षण उत्पन्न हो गया।

उनके विषय-चयन में भी विशेषता थी। साधारण विषयों पर भी इन्होंने सुंदर लेख लिखे हैं, जैसे 'कान', 'नाक',

'आँख', 'बातचीत' इत्यादि। इनकी गृहीत शैली का अच्छा उदाहरण इनके इन लेखों में पाया जाता है। भाषा में दृढ़ता की मात्रा दिखाई पड़ती है। मुहावरों के सुंदर प्रयोग से उसमें एक संगठन उत्पन्न हो गया है, जैसे "वही हमारी साधारण बातचीत का ऐसा घरेलू ढंग है कि उसमें न करतल-ध्वनि का कोई मौक़ा है, न लोगों के कहकहे उड़ाने की कोई बात उसमें रहती है। हम तुम दो आदमी प्रेमपूर्वक संलाप कर रहे हैं। कोई चुटीली बात आ गई हँस पड़े तो मुसकुराहट से ओठों का केवल फरक उठना ही इस हँसी की अंतिम सीमा है। स्पीच का उद्देश्य अपने सुननेवालों के मन में जोश और उत्साह पैदा कर देना है। घरेलू बातचीत मन रमाने का एक ढंग है। इसमें स्पीच की वह सब संजीदगी बेक़दर हो धक्के खाती फिरती है।"

इसके अतिरिक्त भट्टजी उस गद्य-काव्य के निर्माता हैं जिसका प्रचार आजकल बढ़ रहा है। किसी किसी विषय को लेकर पद्यात्मक प्रणाली से गद्य में लिखना आजकल साधारण बात है। परंतु उस समय इस प्रकार बना बनाकर लिखने में अधिक समय लगता रहा होगा। भट्टजी ने इस प्रकार के पद्यात्मक गद्यों की भी भावपूर्ण रचना की है। इस प्रकार की रचनाओं में काल्पनिक विचार-शैली की अत्यंत आवश्यकता पड़ती है। पर कल्पना की दौड़ में भी हम भट्टजी को किसी से पीछे नहीं देखते। इनके 'चंद्रोदय' और 'आँसू' शीर्षक लेख इसके प्रमाण हैं। जैसे:—

"कुँई की कलियों को विकसित करते, मृगनयनियों के मान को समूल उन्मीलित करते, छिटकी हुई चाँदनी से दशों दिशाओं को

धवलित करते, अंधकार को निकालते, सीढ़ी पर सीढ़ी। शिखर के समान आकाशरूपी विशाल पर्वत के मध्य भाग में चढ़ा चला आ रहा है। क्षपा-तमस्काण्ड का हटानेवाला यह चंद्रमा ऐसा मालूम होता है मानो आकाश महासरोवर में श्वेत कमल खिल रहा है। उसमें बीच बीच जो कलंक की कालिमा है सो मानो भौंरे गूँज रहे हैं।"

इस प्रकार की भाषा सामान्य नहीं कही जा सकती, यह उसका गढ़ा हुआ रूप है, अतः विचारवर्द्धक और व्यावहारिक नहीं है। इस प्रकार की रचना के अतिरिक्त इन्होंने भावात्मक लेख भी लिखे हैं; जैसे 'कल्पना', 'आत्मनिर्भरता' आदि। इस प्रकार के लेखों में इनकी भाषा संयत एवं सुंदर हुई है। साधारणतः देखने से इनकी प्रबंध-कल्पना बड़ी ही उच्च कोटि की ज्ञात होती है। मुहावरे के साथ भाषा बड़ी ही रोचक एवं आकर्षक बन जाती है। यों तो इनकी रचनाओं का आकार उतना विस्तृत नहीं है जितना कि भारतेंदु का, पर कई अंशों में इनका कार्य नवीन ही रहा।

प्रतापनारायण मिश्र

भट्टजी का वर्णन उस समय तक समाप्त नहीं कहा जा सकता जब तक पंडित प्रतापनारायण मिश्र का भी वर्णन न हो जाय। इन दोनों व्यक्तियों ने हिंदी गद्य में एक नवीन आयोजन उपस्थित किया था। उसका स्फुरण भी इन्हीं लोगों ने भली भाँति किया। मिश्रजी भी भट्टजी की भाँति अच्छे निबंध-लेखक कहे जा सकते हैं। इन्होंने भी 'बात', 'वृद्ध', 'भौं', 'दाँत' इत्यादि साधारण और व्यावहारिक विषयों पर स्वच्छंद विचार किया है। इस प्रकार के विषयों पर लिखने से बड़ा ही उपकार हुआ। नित्य व्यवहार में आनेवाली वस्तुओं पर भी

कुछ तथ्य की बातें कही जा सकती हैं, इसका बड़ा ही सुंदर और आदर्श रूप इन छोटे छोटे निबंधों से प्राप्त होता है। उनके इस प्रकार के विषयों पर अधिक लिखने से कुछ लोगों की यह धारणा कि 'उनकी प्रतिभा केवल सुगम साहित्य की रचना में ही आबद्ध रही और उसे अपने समय के साहित्यिक धरातल से ऊँचे उठने का कम अवकाश मिला' नितांत भ्रमात्मक है; क्योंकि 'मनोयोग', 'स्वार्थ' ऐसे भावात्मक विषयों पर विचारपूर्ण विवेचन करना साधारण बात न थी। यह दूसरी बात है कि इन विषयों पर उन्होंने इतना अधिक न लिखा हो अथवा उतनी भावुक व्यंजना न की हो जितनी कि भट्टजी ने की है। परंतु जो कुछ उन्होंने लिखा है अच्छा लिखा है, इसमें कोई संदेह नहीं।

हमें उनकी लेखन-प्रणाली में एक विशेष चमत्कार मिलता है। संभव है जिसे लोग 'विदग्ध साहित्य' कहते हैं उसका निर्माण उन्होंने न किया हो, परंतु उनकी लेखनी के साथ साधारण समाज की रुचि अवश्य थी। उनके लेखों में उनकी निजी छाया सदैव रही है। जैसा उनका स्वभाव था वैसा ही उनका विषय-निर्वाचन भी था। इसके अतिरिक्त उनकी रचना में आत्मीयता का भाव अधिक मात्रा में रहता था। साधारण विषय को सरल रूप में रखकर वे सुननेवाले का विश्वास अपनी ओर आकृष्ट कर लेते थे। अभी तक हिंदी पढ़नेवालों के समाज का प्रसार व्यापार रूप में नहीं हुआ था। उनकी लेखनी के हँसमुख स्वभाव ने एक नवीन पाठक-समूह उत्पन्न किया। उन्होंने भट्टजी के साथ हाथ मिलाकर एक साधारण और व्यावहारिक साहित्य का आवि-

त्कार कर यह दिखला दिया कि भाषा केवल विचारशील विषयों के प्रतिपादन एवं आलोचन के लिये ही नहीं है, वरन् उसमें नित्य के व्यवहृत विषयों पर भी आकर्षक रूप में विवेचन संभव है।

भट्टजी के विचारों में इनके विचारों से एक विषय में घोर विभिन्नता थी। भट्टजी ने भारतेंदु की भाँति नागर साहित्य का निर्माण किया। परंतु ये साधारण जन-समुदाय को नहीं छोड़ना चाहते थे। इस धारणा के निर्वाह के विचार से इन्हें अपने भाव-प्रकाशन के ढंग में भी परिवर्तन करना पड़ा, दिहाती भाषा एवं मुहावरों को भी अपनी रचना में स्थान देना पड़ा। इन प्रयोगों के कारण कहीं कहीं पर अशिष्टता और ग्रामीणता भी आ गई है। पर मिश्रजी अपने उद्देश्य की पूर्ति के सामने इस पर कभी ध्यान ही न देते थे। यों तो इनकी भाषा साधारण मुहावरों के बल पर ही चलती थी। इन मुहावरों के प्रयोग से चमत्कार का अच्छा समावेश हुआ है। कहीं कहीं तो इनकी झड़ी लग गई है। इसका प्रमाण हमें इस अवतरण में भली भाँति मिलता है—"डाकखाने अथवा तारघर के सहारे से बात की बात में चाहे जहाँ की जो बात हो जान सकते हैं। (इसके अतिरिक्त बात बनती है, बात बिगड़ती है, बात आ पड़ती है, बात जाती रहती है, बात जमती है, बात उखड़ती है, बात खुलती है, बात छिपती है, बात चलती है, बात अड़ती है। हमारे तुम्हारे भी सभी काम बात ही पर निर्भर हैं। बात ही हाथी पाइए बातहि हाथी पाँव। बात ही से पराए अपने और अपने पराए हो जाते हैं।") भाषा में मुहावरों का प्रयोग करना तो एक ओर

रहा, लेखों के शीर्षक तक पूरे पूरे मुहावरों ही में होते थे; जैसे 'किस पर्व में किसकी बन आती है', 'मरे का मारै शाह मदार' इत्यादि।

इनकी भाषा का रूप बड़ा अस्थिर था। इनके समय तक भाषा का जितना विकास और परिष्कार हो चुका था उसका भी ये अनुसरण न कर सके। इस विचार से इनकी शैली बहुत पिछड़ी रह गई। साधारणतः देखने पर इनकी भाषा में पंडिताऊपन और पूरबीपन झलकता है। 'आनंद लाभ करता है', 'तो भी', 'बात रही', (थी), 'शरीर भरे की', 'चाय की सहाय से', 'कहाँ तक कहिए', 'हैं कै जने' इत्यादि से भाषा में ग्रामीणता एवं परिमार्जन की न्यूनता सूचित होती है। इसके अतिरिक्त इनकी रचना में विराम आदि चिह्नों का भी अभाव रहता है। इससे भाव-व्यंजना में अव्यवस्था उत्पन्न हो गई है। स्थान स्थान पर तो भाव भी विच्छिन्न दिखाई पड़ते हैं; पढ़ते पढ़ते रुकना पड़ता है; भाव के समझने में बड़ी उलझन उपस्थित हो जाती है। जो विचार विराम आदि चिह्नों के प्रयोग से पाठ्य-सरल बनाए जा सकते हैं वे भी उनकी अनुपस्थिति के कारण अस्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। मिश्रजी के समय तक इन विषयों की कमी नहीं रह गई थी। शैली में स्थिरता एवं परिपक्वता आ चली थी। ऐसी अवस्था में भी इनकी भाषा बड़ी अनियंत्रित और पुरानी ही रह गई है। जैसे—"पर केवल इन्हीं के तक में दूसरे को कुछ नहीं, फिर क्यों इनकी निंदा की जाय ?" यह वाक्य बिलकुल अस्पष्ट है।

भाषा संबंधी इन त्रुटियों के अतिरिक्त व्याकरण संबंधी भूलें इन्होंने बहुत की हैं। इनकी रचना से व्याकरण की

अस्थिरता स्पष्ट झलकती है। 'जात्याभिमान', 'उपरोक्त', 'भाषा इत्यादि सभो निर्जीव से हो रहे हैं' इत्यादि भूलें इनकी रचना में साधारणतः पाई जाती हैं। 'अकिल का (के) कारण' 'हुई' (हैं ही), 'के' (कर), 'मुख के' (से), 'एक वार' इत्यादि अप्रचलित प्रयोग भी अधिकता से मिलते हैं। इन न्यूनताओं के कारण इनकी भाषा त्रुटिपूर्ण एवं शिथिल रह गई है। परंतु इतना सब होते हुए भी उसमें जो कहने का आकर्षक ढंग है वह बड़ा ही मनोहर ज्ञात होता है; उसमें एक विचित्र बाँकापन मिलता है जो दूसरे लेखकों में नहीं मिलता। इनकी रचना में भट्टजी की भाँति वैयक्तिक छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। साधारण रूप में यह कहा जा सकता है कि इनकी भाषा में बड़ी रोचकता है।

'यदि सचमुच हिंदी का प्रचार चाहते हो तो आपस के जितने कागज पत्तर लेखा जोखा टीप तमस्सुक हों सब में नागरी लिखी जाने का उद्योग करो। जिन हिंदुओं के यहाँ मौलवी साहब बिसमिल्लाह कराते हैं उनके पंडितों से अक्षरारंभ कराने का उपकार करो चाहे कोई हँसे चाहे धमकावे जो हो सो हो तुम मनसा वाचा कर्मणा उर्दू की लुलू देने में सन्नद्ध हो इधर सरकार से भी झगड़े खुशामद करो दाँत निकालो पेट दिखाओ मेमोरियल भेजो एक बार दुतकारे जाओ फिर धन्ने धरो किसी भाँति हतोत्साह न हो हिम्मत न हारो जो मनसाराम कचियाने लगैं तो यह मंत्र सुना दो......बस फिर देखना पाँच सात बरस में फारसी छार सी उड़ जायगी। नहीं तौ होता तो परमेश्वर के किए है हम सदा यही कहा करैंगे "पीसैं का चुकरा गाँवैं का छीताहरन" "घूरे के लत्ता बिनै कनातन का डौल बाँधैं" हमारी भी कोई सुनैगा ? देखें कौन माई का लाल पहले सिर उठाता है ?'

इस प्रकार की भाषा मिश्रजी अपनी उन रचनाओं में नहीं प्रयुक्त करते थे जो अधिक विवेचनापूर्ण होती थीं। विरामादि चिह्नों का तथा भावभंगी का तो वही रूप रहता था पर शब्दावली में अंतर होता था। इसके अतिरिक्त भाषा भी भाव के अनुकूल बनकर संयत एवं गंभीर हो जाती थी।

"अकस्मात् जहाँ पढ़ने लिखने आदि में कष्ट सहते हो वहाँ मन को सुयोग्य बनाने में भी त्रुटि न करो, नो चेत् दिव्य जीवन लाभ करने में अयोग्य रह जाओगे। इससे सब कर्तव्यों की भाँति उपर्युक्त विचार का अभ्यास करते रहना मुख्य कार्य समझो तो थोड़े ही दिनों में मन तुम्हारा मित्र बन जायगा और सर्व काल उत्तम पथ में विचरण करने तथा उत्साहित रहने का उसे स्वभाव पड़ जायगा, तथा दैवयोग से यदि कोई विशेप खेद का कारण उपस्थित होगा जिसे नित्य के अभ्यास उपाय दूर न कर सकें उस दशा में भी इतनी घबराहट तो उपयोगी नहीं जितनी अनभ्यासियों की होती है क्योंकि विचार-शक्ति इतना अवश्य समझा देगी कि सुख दुःख सदा आया ही जाया करते हैं।"

भारतेंदु के प्रयास एवं भट्टजी के तथा मिश्रजी के सतत उद्योग से हिंदी का गद्य-साहित्य बलिष्ठ हो चला था। उसमें

बदरीनारायण चौधरी
'प्रेमघन'

परिपक्वता का आभास आने लगा था, भिन्न प्रकार के विषयों का दिग्दर्शन होने लगा था। इस समय के गद्य की अवस्था उस पक्षि-शावक के समान थी जो अभी स्फुरण-शक्ति का संचय कर रहा हो। इसी समय 'प्रेमघन' जी ने एक नवीन रूप धारण किया। भाषा में बल आ ही रहा था; इन्होंने उस बल को दिखाना आरंभ किया। भाषा को सानुप्रास बनाने का बीड़ा उठाना, उसमें अलौकिकता

उपस्थित करने का प्रयत्न करना, उसको स्वच्छ और दिव्य बनाए रखने की साधना करना 'प्रेमघन' ही का कार्य था। इसका प्रभाव उनकी भाषा पर यह पड़ा कि वह दुरूह और अव्यावहारिक बनने लगी। अभी इतनी उन्नति होने पर भी भाषा का इतना अच्छा परिमार्जन नहीं हुआ था कि उसमें जटिलता और विद्वत्ता दिखाने का प्रयास सफल हो सके। बड़े बड़े वाक्य लिखना बुरा नहीं, परंतु इनके वाक्यों का प्रस्तार तथा तात्पर्य-बोधन बड़ा दुरूह होता था। कहीं कहीं तो वाक्यों की दुरूहता एवं बाईं से जी ऊब उठता है। उनमें से एक प्रकार की रुखाई उत्पन्न हो पड़ती है। उनकी यह वाक्य-विशालता केवल गद्य-काव्यात्मक प्रबंधों में ही नहीं आबद्ध रहती थी वरन् साधारण रचनाओं और भूमिका-लेखन तक में भी दिखाई पड़ती है। जैसे—

"प्रयाग की बीती युक्तप्रांतीय महाप्रदर्शिनी के सुबृहत् आयोजन और उसके समारंभोत्कर्ष के आख्यान का प्रयोजन नहीं है; क्योंकि वह स्वतः विश्वविख्यात है। उसमें सहृदय दर्शकों के मनोरंजन और कुतूहलवर्धनार्थ जहाँ अन्य अनेक अद्भुत और अनोखी क्रीड़ा, कौतुक और विनोद के सामग्रियों के प्रस्तुत करने का प्रबंध किया गया था, स्थानिक सुप्रसिद्ध प्राचीन घटनाओं का ऐतिहासिक दृश्य दिखाना भी निश्चित हुआ और उसके प्रबंध का भार नाट्यकला में परम प्रवीण प्रयाग युनिवर्सिटी के ला कालेज के प्रिंसिपल श्रीयुत मिस्टर आर० के० सोराबजी एम० ए०, बैरिस्टर-ऐट-ला को सौंपा गया; जिन्होंने अनेक प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटनाओं को छाँट और उन्हें एक रूपक के रूप में ला सुविशाल समारोह के सहित उनकी लीला (पेजेंट) दिखाने के अभिप्राय से कथा-प्रबंध-रचना में कुछ भाग का तो स्वयं निर्माण

करना एवं कुछ में औरों से सहायता लेनी स्थिर कर उनपर उसका भार अर्पण किया।"

जिस समय बड़हर की रानी का कोर्ट आफ वार्ड्स छूटा था उसका समाचार इन्होंने यों प्रकाशित किया था—

"दिव्य देवी श्रीमहारानी बड़हर लाख झंझट झेल और चिर काल पर्यंत बड़े बड़े उद्योग और मेल से दुःख के दिन सकेल अचल 'कोर्ट' का पहाड़ ढकेल फिर गद्दी पर बैठ गईं। ईश्वर का भी कैसा खेल है कि कभी तो मनुष्य पर दुःख की रेल पेल और कभी उसी पर सुख की कलोल है।"

कितनी साधारण सी बात थी परंतु उसका इतना तूल इस प्रकार की रचना में संभव है। यह स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि भाषा हथौड़ा लेकर बड़ी देर तक गढ़ी गई है। लिखनेवाले का अभ्यास बढ़ जाने पर इस प्रकार की अभिव्यंजना में उसे विशेष असुविधा तो नहीं रह जाती, परंतु उसकी रचना साधारणतः अव्यावहारिक सी हो जाती है। चौधरीजी की भाषा इस विषय में प्रमाण मानी जा सकती है। भारतेंदु की चमत्कार-रहित एवं व्यावहारिक शैली के ठीक विपरीत यह शैली है। इसमें चमत्कार एवं आलंकारिकता का विशेष भाग पाया जाता है। किसी साधारण विषय को भी बढ़ा-चढ़ाकर लिखना इसमें अभीष्ट होता है। इस प्रकार इसकी स्वाभाविकता का क्रमागत ह्रास होता है और चलतापन नष्ट हो जाता है।

यों तो प्रेमघनजी की रचना में भी "आन पड़ा", 'कराकर', 'तो भी' इत्यादि रूप मिलते हैं; परंतु भाषा का जितना प्रौढ़ रूप उसमें दिखाई पड़ता है वह स्तुत्य है। उन्होंने भाषा को काव्योचित बनाने में सोद्देश्य चेष्टा की। इसके अतिरिक्त कभी

कभी अवसर पड़ने पर उन्होंने आलोचनात्मक लेख भी लिखे हैं। इन्हीं लेखों से हम आलोचनात्मक साहित्य का एक प्रकार से आरंभ कह सकते हैं। यों तो उन लेखों की भाषा आलोचना की भाषा नहीं होती थी, फिर भी उनमें विषय-विशेष का प्रवेश मिलता है।

धीरे धीरे उर्दू की तत्समता का ह्रास और संस्कृत की तत्समता का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। पंडित बदरीनारायण चौधरी की रचना में उर्दू की संतोषजनक कमी थी परंतु लाला श्रीनिवासदास में उर्दू तत्समता भी अच्छी मिलती है। इस कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि राजा शिवप्रसादजी की भाँति इसमें उर्दू का प्राबल्य था। अब उर्दू-ढंग की वाक्य-रचना प्रायः लुप्त हो रही थी। उर्दू शब्दों का प्रयोग भी दिन पर दिन घटता जाता था। इसके सिवा लालाजी में हमें दोरंगी दुनिया नहीं दिखाई पड़ती, जैसी पंडित बालकृष्ण भट्ट की रचना में थी। इनकी भाषा संयत, सुबोध और दृढ़ थी। यों तो इनके उपन्यास—परीक्षा-गुरु—और नाटकों की भाषाओं में अंतर है, परंतु वह केवल इतना ही है कि जितना केवल विषय-परिवर्तन में प्रायः हो जाता है। नाटकों की भाषा वक्तृता के अनुकूल होती थी और परीक्षा-गुरु की भाषा वर्णनात्मक हुई है। इनमें साधारणतः दिल्ली की प्रांतिकता और पछाहींपन प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। 'इस्को', 'उस्को' और 'उस्से' ही नहीं वरन् 'किस्पर', 'इस्तरह', 'तिस्पर' ऐसे प्रयोग भी पाए जाते हैं। इनके अतिरिक्त ये 'तुम्हीं' न लिखकर 'तुमही', 'ठहर' न लिखकर 'ठैर' आदि अधिक लिखा करते थे।

श्रीनिवासदास

विभक्तियों का प्रयोग भी प्रांतिकता से पूर्ण होता था (जैसे—'सै' (से), 'मैं' (में) इत्यादि। इसके उपरांत 'करैं', 'देखे पर भी', 'रहैंगे', 'जाँतो', 'तहाँ' (वहाँ), 'सुनैं' इत्यादि ब्रज के रूप भी स्थान स्थान पर प्राप्त होते हैं। 'व' और 'ब' के उपयोग का तो इन्हें कुछ विचार ही न था। किसी किसी शब्द को भी ये शायद भ्रमवश अशुद्ध ही लिखा करते थे। जैसे 'धैर्य' के लिये 'धीर्य' या 'धीर्य्य' तथा 'शांत' के अर्थ में 'शांति' का प्रयोग। इसके अतिरिक्त व्याकरण संबंधी साधारण भूलों का होना तो उस समय की एक विशेषता थी;) जैसे—"पृथ्वीराज—(संयोगिता से) प्यारी!...तुमही मेरा वैभव और तुमही मेरे सर्वस्व हो।" । ऐसे प्रयोग स्थान स्थान पर बराबर मिलते हैं। इन सब त्रुटियों के रहते हुए भी भाषा में संयम दिखाई पड़ता है। उसमें एक विशेष प्रकार का चलतापन मिलता है। न उछल-कूद रहती है और न भद्दा चमत्कार ही। सीधा-सादा व्यावहारिक रूप ही प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार की भाषा में उच्च विचारों का भी निदर्शन हो सकता है और सामान्य विषयों का भी। जैसे—

"अब इन वृत्तियों में से जिस वृत्ति के अनुसार मनुष्य करे वह उसी मेल में गिना जाता है। यदि धर्म-प्रवृत्ति प्रबल रही तो वह मनुष्य अच्छा समझा जायगा और निकृष्ट प्रवृत्ति प्रबल रही तो वह मनुष्य नीच गिना जायगा और इस रीति से भले बुरे मनुष्यों की परीक्षा समय पाकर अपने आप हो जायगी, बल्कि अपनी वृत्तियों को पहचानकर मनुष्य अपनी परीक्षा भी आप कर सकेगा। राजपाट, धन-दौलत, विद्या, स्वरूप, वंश-मर्यादा से भले बुरे मनुष्य की परीक्षा नहीं हो सकती।"

"पृथ्वीराज—(प्रीति से संयोगिता की ओर देखकर) मेरे नयनों के तारे, मेरे हिए के हार, मेरे शरीर का चंदन, मेरे प्राणाधार इस

समय इस लोकाचार से क्या प्रयोजन है ? जैसे परस्पर के मिलाप में मोतियों के हार भी हृदय के भार मालूम होते हैं, इसी तरह ये लोकाचार भी इस समय मेरे व्याकुल हृदय पर कठिन प्रहार हैं। प्यारी ! रक्षा करो, अब तक तो तुमारे नयनों की बाण-वर्षा से छिन्नकवच हो मैंने अपने घायल हृदय को सम्हाला पर अब नहीं सम्हाला जाता।"

इस समय के गद्य में साहित्यिक शैली का सुंदर उदाहरण ठाकुर जगमोहनसिंहजी की रचनाओं में प्राप्त होता है। ठाकुर साहब हिंदी-साहित्य के अतिरिक्त संस्कृत एवं अँगरेजी भाषा के भी अच्छे जानकार थे। इसकी छाप उनकी लेखनी से स्पष्ट झलकती है। उनकी रचनाओं में न तो पंडित प्रतापनारायण की भाँति विरामादि चिह्नों की अव्यवस्था मिलती है और न लाला श्रीनिवासदास की भाँति मिश्रित भाषा एवं शब्दों के अनियंत्रित रूप ही मिलते हैं। यों तो 'शाची', 'तुम्हैं समर्पित है', 'जिसै दूँ', 'हम क्या करैं', 'चाहती हैा' और 'धरे हैं' इत्यादि पूर्वी रूप मिलते हैं, परंतु फिर भी भाषा का जितना बोधगम्य, स्वाभाविक तथा परिष्कृत स्वरूप हमें इनकी रचनाओं में प्राप्त होता है उतना साधारणतः सामान्य लेखकों में नहीं मिलता। ठाकुर साहब भी स्थान स्थान पर ठीक वैसी ही गद्य-काव्यात्मक भाषा का उपयोग करते थे जैसी कि हमें भट्टजी की रचना में प्राप्त हुई थी। शैली के विचार से इनकी लेखन-प्रणाली स्पष्ट और अलंकृत होती थी; परंतु उसमें 'प्रेमघन' की उलझनवाली वाक्य-रचना नहीं रहती। उनकी शैली में तड़क-भड़क न होते हुए भी चमत्कार और अनोखापन है जो केवल उन्हीं की वस्तु कही जा सकती है। उसमें एक व्यक्तित्व-विशेष की झलक पाई जाती है। संस्कृत-ज्ञान का उपयोग उन्होंने

जगमोहनसिंह

अपने शब्द-चयन में किया है। शब्दों की सुंदर सजावट से इनकी भाषा में कांति आ गई है। इस कांति के साथ मधु-रता एवं संस्कृति का सामंजस्य है। जैसे—

"जहाँ के शल्लकी वृक्षों की छाल में हाथी अपना बदन रगड़ रगड़कर खुजली मिटाते हैं और उनमें से निकला चीर सब वन के शीतल समीर को सुरभित करता है मंजु वंजुलकी लता और नील निचुल के निकुंज जिनके पत्ते ऐसे घने कि सूर्य के किरणों को भी नहीं निकलने देते इस नदी के तट पर शोभित हैं। ऐसे दंडकारण्य के प्रदेश में भगवती चित्रोत्पला जो नीलोत्पलों की झाड़ियों और मनोहर पहाड़ियों के बीच होकर बहती हैं, कंकगृद्ध नामक पर्वत से निकलकर अनेक दुर्गम विषम और असम भूमि के ऊपर से, बहुत से तीर्थों और नगरों को अपने पुण्य जल से पावन करती पूर्व समुद्र में गिरती है।"

"लो......वह श्यामलता थी, यह उसी लता मंडप के मेरे मान-सरोवर की श्यामा सरोजिनी है, इसका पात्र और कोई नहीं जिसे दूँ। हाँ एक भूल हुई कि श्यामा-स्वप्न एक 'प्रेमपात्र' को अर्पित किया गया। पर यदि तुम ध्यान देकर देखो तो वास्तव में भूल नहीं हुई। हम क्या करें तुम आप चाहती हो कि ढोल पिटै; आदि ही से तुमने गुप्तता की रीति एक भी नहीं निबाही, हमारा दोष नहीं तुम्हीं विचारो मन चाहे तो अपनी 'तहरीर' और 'एकबाल' देख लो दफ़र के दफ़्तर मिसिलबंदी होकर धरे हैं, अपने कहकर बदल जाने की रीति अधिक थी इसलिए 'प्रेमपात्र' को स्वप्न समर्पित कर साक्षी बनाया, अब कैसे बदलोगी!"

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के बाल्यकाल में ही आर्य-समाज के प्रचार ने हिंदी की गद्य-शैली में कई आवश्यक परिवर्तन किए।

आर्य-समाज और स्वामी दयानंद

वास्तव में गद्य के विकास के लिये यह आवश्यक होता है कि उसमें इतना बल आ जाय कि वाद-विवाद भली भाँति हो सके, विषय का भावपूर्ण शब्दों में प्रतिपादन हो सके। यह

उसी समय संभव है जब कि भाषा में बल का संचार व्यापक रूप से होने लगे। वाद-विवाद का ही विशद रूप व्याख्यान है; उसमें वाद-विवाद का मननशील एवं संयत स्वरूप रहता है। किसी विषय की सम्यक् गवेषणा करने के उपरांत बलिष्ठ और स्पष्ट भाषा में जो विचार-धारा निःसृत होती है उसी का नाम है व्याख्यान। इस धर्म-विचार को व्यापक बनाने के लिये जो व्याख्यानों और वक्तृताओं की धूम मची उससे हिंदी-गद्य को बड़ा प्रोत्साहन मिला। इस धार्मिक आंदोलन के कारण सारे उत्तरी भारत में हिंदी का प्रसार हुआ। इसका कारण यह था कि आर्य-समाज के आदिगुरु स्वामी दयानंदजी ने, गुजराती होने पर भी, हिंदी का ही आश्रय लिया था। इस चुनाव का कारण हिंदी की व्यापकता थी। अस्तु, हिंदी के प्रचार के अतिरिक्त जो प्रभाव गद्य-शैली पर पड़ा वह अधिक विचारणीय है। व्याख्यान अथवा वाद-विवाद को प्रभावशाली बनाने के लिये एक ही बात को कई रूप से घुमा-फिराकर कहने की भी आवश्यकता होती है। सुननेवालों पर इस रीति के भाव-व्यंजन का प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है। इस प्रकार की शैली का प्रभाव हिंदी-गद्य पर भी पड़ा और यही कारण है कि गद्य की साधारण भाषा भी इस प्रकार की हो गई—

"क्या कोई दिव्यचक्षु इन अक्षरों की गुलाई, पंक्तियों की सुघाई और लेख की सुघड़ाई को अनुत्तम कहेगा? क्या यही सौम्यता है कि एक सिर आकाश पर और दूसरा सिर पाताल पर छा जाता है? क्या यही जल्दपना है कि लिखा आलूबुखारा और पढ़ा उल्लू बिचारा, लिखा छुन्नू पढ़ने में आया झब्बू। अथवा मैं इस विषय पर इतना

जोर इसलिये देता हूँ कि आप लोग सोचें समझें विचारें और अपने नित्य के व्यवहार में प्रयोग में लावें। इससे आपका नैतिक जीवन सुधरेगा, आपमें परोक्ष की अनुभूति होगी और होगी देश तथा समाज की भलाई।"

इसके अतिरिक्त गद्य-शैली में जो व्यंग-भाषा का रुचिकर रूप दिखाई पड़ता है वह भी इसी धार्मिक आंदोलन का अप्रत्यक्ष परिणाम है। इस आर्य-समाज के प्रतिपादकों को जिस समय भिन्न धर्मावलंबियों से वाद-विवाद करना पड़ता था उस समय ये अपने दिली गुबारों को बड़ी मनोरंजक, आकर्षक तथा व्यंगपूर्ण भाषा में निकालते थे। यही नहीं; वरन् वाद-विवाद एवं वक्तृताओं के सिलसिले में ये लोग "सीधी, तीव्र और लकड़तोड़ भाषा" का प्रयोग करते थे। इन सब विशेषताओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से उस समय के गद्य-लेखकों पर पड़ा। बालकृष्ण भट्ट प्रभृति लेखकों की रचनाओं में व्याख्यान की भाषा का आभास स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है। इन सब बातों के अतिरिक्त हम यह देखते हैं कि नाटकों में प्रयुक्त कथोपकथन की भाषा का भी आधार यही वाद-विवाद की भाषा है। उस समय नाटक अधिक लिखे गए और उन नाटकों के कथोपकथन में जिस भाषा-शैली का प्रयोग हुआ वह यही वाद-विवाद की भाषा-शैली है। इस प्रकार यह निश्चित है कि इस समय के धार्मिक आंदोलन का जो रूप समस्त उत्तरी भारत में फैला वह हिंदी गद्य-शैली की अभिवृद्धि का बड़ा सहायक हुआ। जिस भाषा-शैली को संयत एवं सुघड़ बनाने के लिये सैकड़ों वर्षों की आवश्यकता होती वह इस आंदोलन के उथल-पुथल में अविलंब ही सुधर गई।

इसी समय गद्य-संसार में पंडित गोविंदनारायण मिश्र के समान धुरंधर लेखक प्रादुर्भूत हुए। अभी तक गद्य-साहित्य में प्रचंड पांडित्य का प्रदर्शन किसी की शैली में नहीं हुआ था। यों तो पंडित बदरीनारायण चौधरी की भाषा का रूप भी पांडित्यपूर्ण एवं गद्य-काव्यात्मक था, परंतु उनमें उतनी दीर्घ समासांत पदावली नहीं पाई जाती जितनी कि मिश्रजी की रचना में प्रचुरता से प्राप्त होती है। इनमें गद्य-काव्यात्मक अभिव्यंजना इतनी अधिक है कि स्थान स्थान पर भाव-निदर्शन अरुचिकर एवं अस्पष्ट हो गया है। अस्पष्ट वह इस विचार से हो जाता है कि वाक्य के अंत तक आते आते पाठक की स्मरण-शक्ति इतनी भाराकुल हो जाती है कि उसे वाक्यांशों अथवा वाक्यों के संबंध तक का ध्यान नहीं रह जाता। इस प्रकार की रचना केवल दर्शनीय और पठनीय ही होती है, बोधगम्य नहीं। भाषा के व्यावहारिक गुण भी इसमें नहीं मिल सकते; क्योंकि इसमें न तो भावों का विनिमय सरलता से हो सकता है और न भाषा बोधगम्य ही होती है। संसार का कोई भी प्राणी इस प्रकार की भाषा में विचारों का आदान-प्रदान नहीं करता। स्वतः लेखक को घंटों लग जाते हैं परंतु फिर भी वाक्यों का निर्माण नहीं हो पाता। यह बात दूसरी है कि इस प्रकार का लेखक लिखते लिखते इतना अभ्यस्त हो जाता है कि उसे इस विधि-विशेष से वाक्य-रचना में कुशलता प्राप्त हो जाती है। परंतु इस रचना को न तो हम गद्य-काव्य ही कह सकते हैं और न कथन का चामत्कारिक ढंग ही। यह तो भाषा की वास्तविक परिभाषा से कोसों दूर पड़ जाता है। भाषा की उद्बोधन-शक्ति एवं

गोविंदनारायण मिश्र

उसके व्यावहारिक प्रचलन का इसमें पता ही नहीं लगता। इस प्रकार की रचना का यदि एक ही वाक्य-समूह पढ़ा जाय तो संभव है कि उसकी बाह्य आकृति पांडित्यपूर्ण और सरस ज्ञात हो, परंतु जिस समय उसके भावों के समझने का प्रयत्न किया जायगा उस समय मस्तिष्क के ऊपर इतना बोझ पड़ेगा कि थोड़े ही समय में वह थककर बैठ जायगा। परमात्मा की सदिच्छा थी कि इस प्रकार के पांडित्य-प्रदर्शन एवं वाग्जाल की ओर लेखकों की प्रवृत्ति नहीं झुकी, अन्यथा भाषा का व्यावहारिक तथा बोधगम्य रूप तो नष्ट हो ही जाता, साथ ही साहित्य के विकास पर भी धक्का लगता। इस प्रकार की भावना अथवा रुचि का विनाश भी स्वाभाविक ही था; क्योंकि वास्तव में जिस वस्तु का आधार सत्य पर आश्रित नहीं रहता उसका विकास हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि मिश्रजी की शैली का आगे विकास नहीं हो सका। मिश्रजी की रचना की एक झलक यहाँ दिखाई जाती है—

"जिस सुजन समाज में सहस्रों का समागम बन जाता है जहाँ पठित कोविद, कूर, सुरसिक, अरसिक, सब श्रेणी के मनुष्य मात्र का समावेश है, वहाँ जिस समय सुकवि, सुपंडितों के मस्तिष्क सोते के अदृश्य प्रवाह-मय प्रगल्भ प्रतिभा-स्रोत से समुत्पन्न कल्पना-कलित अभिनव भाव माधुरी भरी छलकती अति मधुर रसीली स्रोतस्वती उस हंसवाहिनी हिंदी सरस्वती की कवि की सुवर्ण विन्यास समुत्सुक सरस रसना रूपी सुचमत्कारी उत्स (झरने) से कलरव कल कलित अति सुललित प्रवल प्रवाह सा उमड़ा चला आता, मर्मज्ञ रसिकों को श्रवणपुटरंध्र की राह मन तक पहुँच सुधा से सरस अनुपम काव्यरस चखाता है, उस समय उपस्थित श्रोता मात्र यद्यपि छंद-बंद से स्वच्छंद समुच्चारित शब्द-

लहरी-प्रवाह-पुंज का सम भाव से श्रवण करते हैं परंतु उसका चमत्कार आनंद रसास्वादन सबको स्वभाव से नहीं होता। जिसमें जितनी योग्यता है जो जितना मर्मज्ञ है और रसज्ञ है शिक्षा से सुसंस्कृत जिसका मन जितना अधिक सर्वांगसुंदरतासंपन्न है, जिसमें जैसी धारणाशक्ति और बुद्धि है वह तदनुसार ही उससे सारांश ग्रहण तथा रस का आस्वादन भी करता है। अपने मन की स्वच्छता, योग्यता और संपन्नता के अनुरूप ही उस चमत्कारी अपरूप रूप का चमकीला प्रतिबिंब भी उसके मन पर पड़ता है। परम वदान्य मान्यवर कवि कोविद तो सुधा-वारिद से सब पर सम भाव से खुले जी खुले हाथों सुरस बरसाते हैं, परंतु सुरसिक समाज पुष्प वाटिका किसी प्रांत में पतित ऊसर समान मूसरचंद मंदमति मूर्ख और अरसिकों के मन मरुस्थल पर भाग्यवश सुसंसर्ग प्रताप से निपतित उन सुधा से सरस-बूँदों के भी अंतरिक्ष में ही स्वाभाविक विलीन हो जाने से बिचारे उस नवेली नव रस से भरी बरसात में भी उत्तप्त प्यासे और जैसे थे वैसे ही शुष्क नीरस पड़े धूल उड़ाते हैं। कवि कोविदों की कोमल कल्पना कलिता कमनीय कांति की छाया उनके वैसे प्रगाढ़ तमाच्छन्न-मलिन मन पर कैसे पड़ सकती है ?"

एक अँगरेजी भाषा के आलोचक ने डाक्टर जानसन की गद्य-शैली का विवेचन करते हुए लिखा है कि उसमें ऐसी भयंकरता मिलती है मानो मांस के लोथड़े बरस रहे हों। मेरा भी ठीक यही विचार मिश्रजी की शैली के संबंध में है। इनकी शैली में वाक्यों की लंबी दौड़ और तत्सम शब्दों के व्यवहार की बुरी लत के अतिरिक्त इतनी विचित्रता है कि भयंकरता आ जाती है। उपसर्गों के अनुकूल प्रयोग से शब्दार्थों में विशिष्ट व्यंजना प्रकट होती है परंतु जब वह व्यर्थ का आडंबर बना लिया जाता है तब एक विचित्र भद्दापन प्रकट होने लगता

है। जैसे 'पंडित' 'रस' और 'ललित' के साथ 'सु', 'तुल्य' और 'उच्चरित' के साथ 'सम्' लगाकर अजनबी जानवर तैयार करने से भाषा में अस्वाभाविकता और अव्यावहारिकता बढ़ने के अतिरिक्त और कोई भलाई नहीं उत्पन्न हो सकती। इस संस्कृत की तत्सम शब्दावली तथा समासांत पदावली के बीच बीच में तद्भव शब्दों का प्रयोग करना मिश्रजी को बड़ा प्रिय लगता था। परंतु तत्समता के प्रकांड तांडव में बेचारे 'राह', 'पहुँच', 'बरसात', 'मूसरचंद', 'बूँद' आदि शब्दों की दुर्गति हो रही है। मिश्रजी सदैव 'सुचा देना', 'अनेकों बेर' और 'यह ही' का प्रयोग करते थे। विभक्तियों को ये केवल शब्दों के साथ मिलाकर लिखते ही भर न थे प्रत्युत उनका प्रयोग आवश्यकता से अधिक करते थे। इस कारण उनकी रचना का प्रवाह शिथिल पड़ जाता है। 'भाषा की प्रकृति के बदलने में' अथवा 'किसी प्रकार की हानि का होना संभव नहीं था' में यह बात स्पष्ट दिखाई पड़ती है। 'भाषा की प्रकृति बदलने में' अथवा 'किसी प्रकार हानि होना संभव नहीं था' लिखना कुछ बुरा न होता। "तत्व निर्णय का होना असंभव समझिए" में यदि 'का' विभक्ति 'तत्व' के साथ लगा दी जाय तो भाव अधिक बोधगम्य हो जायगा।

इस भाँति हम देखते हैं कि मिश्रजी की भाषा चाहे आनुप्रासिक होने के कारण श्रुतिमधुर भले ही लगे परंतु वास्तव में बड़ी अव्यावहारिक एवं बनावटी है। उनके एक एक वाक्य निहाई पर रखकर हथौड़े से गढ़े गए जान पड़ते हैं। इस गद्य-काव्यात्मक कही जानेवाली भाषा के अतिरिक्त मिश्रजी अपने विचार से जो साधारण भाषा लिखते थे वह भी उसी

ढंग की होती थी। उसमें भी व्यावहारिकता की मात्रा न्यून ही रहती थी, उत्कृष्ट शब्दावली का प्रयोग और तद्भवता का प्रायः लोप दिखाई देता है। भाव-व्यंजना में भी सरलता नहीं रहती थी। जब वे साधारण वाद-विवाद के आलोचनात्मक विषय पर भी लिखते थे उस समय भी उनकी भाषा और शैली उसी कोटि की होती थी। उनकी साधारण विचार-विवेचना के लिये भी गवेषणात्मक भाषा ही आवश्यक रहती थी। जैसे:—

"साहित्य का परम सुंदर लेख लिखनेवाला यदि व्याकरण में पूर्ण अभिज्ञ न होगा तो उससे व्याकरण की अनेकों अशुद्धियाँ अवश्य होंगी। वैसे ही उत्तम वैयाकरण व्याकरण से विशुद्ध लेख लिखने पर भी अलंकार-शास्त्रों के दूषणों से अपना पीछा नहीं छोड़ा सकता है। अलंकार-भूषित साहित्य-रचना की शैली स्वतंत्र है। इसकी अभिज्ञता उपार्जन करने के शास्त्र भिन्न हैं जिनके परमोत्तम विचार में व्याकरण का अशुद्धि-विशिष्ट लेख भी साहित्य में सर्वोत्तम माना जाता है। सारांश यह कि अत्यंत सुविशाल शब्दारण्य के अनेकों विभाग वर्तमान हैं, उसमें एक विषय की योग्यता वा पांडित्य के लाभ करने से ही कभी कोई व्यक्ति सब विषयों में अभिज्ञ नहीं हो सकता है। परंतु अभागी हिंदी के भाग्य में इस विषय का विचार ही मानो विधाता ने नहीं लिखा है। जिन महाशयों ने समाचारपत्रों में स्वनामांकित लेखों का मुद्रित कराना कर्तव्य समझा और जिनके बहुत से लेख प्रकाशित हो चुके हैं, सर्व साधारण में इस समय वे सब के सब हिंदी के भाग्य-विधाता और सब विषयों के ही सुपंडित माने जाते हैं। मैं इस भेड़ियाधसान को हिंदी की उन्नति के विषय में सबसे बढ़कर बाधक और भविष्य में विशेष अनिष्टोत्पादक समझता हूँ। अनधिकार चर्चा करनेवाले से बात बात में भ्रम प्रमाद संघटित

होते हैं। नामी लेखकों के श्रम से अशिक्षित समुदाय की ज्ञानोन्नति की राह में विशेष प्रतिबाधक पड़ जाते हैं। यह ही कारण है कि तत्वदर्शी विज्ञ पुरुष अपने श्रम का परिज्ञान होते ही उसे प्रकाशित कर सर्व साधारण का परमोपकार करने में क्षणमात्र भी विलंब नहीं करते, बल्कि विलंब करने को महा पाप समझते हैं।"

यह मिश्रजी की आलोचनात्मक भाषा का उदाहरण है। इसमें दीर्घ पदावली, गुणवाची शब्दों एवं उपसर्गों की उतनी भरमार नहीं है। यों तो इसमें भी उन्होंने किसी बात को साधारण ढंग से न कहकर अपने द्राविड़ी प्राणायाम का ही अवलंबन किया है। "अपने लेख छपाए" के स्थान पर "समाचारपत्रों में स्वनामांकित लेखों का मुद्रित कराना अपना कर्तव्य समझा" लिखना ही वे उचित समझते थे। किसी विषय को साधारण रूप में कहना उन्हें बिलकुल अच्छा न लगता था। नित्य की बोलचाल में वे असाधारण शब्दावली का प्रयोग करते थे। मैं तो जब उनसे मिलता और बात-चीत करने का अवसर पाता तो सदैव उनकी बातें सचेष्ट होकर सुनता था क्योंकि मुझे इस बात का भय लगा रहता था कि कहीं कुछ समझने में भूल कर अंडबंड उत्तर न दे दूँ। अस्तु, भाषा की दुरूहता तथा विचित्रता को एक ओर रखकर हमें यह मानने में कोई विवाद नहीं है कि मिश्रजी ने व्याकरण संबंधी नियमन में बड़ा उद्योग किया था। यही तो समय था जब लोगों का ध्यान व्याकरण के औचित्य की ओर खिंच रहा था और अपनी भाषा संबंधी त्रुटियों पर विचार करना आरंभ हो रहा था। इन्होंने विभक्तियों को शब्दों के साथ मिलाकर लिखने का प्रतिपादन किया और स्वयं उसी प्रणाली का अनुसरण किया।

बाबू बालमुकुंद गुप्त

मिश्रजी के ठीक उलटे बाबू बालमुकुंद गुप्त थे। एक ने अपने प्रखर पांडित्य का आभास अपने समासांत पदों और संस्कृत की प्रकांड तत्समता में झलकाया, दूसरे ने साधारण चलते उर्दू के शब्दों को संस्कृत के व्यावहारिक तत्सम शब्दों के साथ मिलाकर अपनी उर्दूदानी की गजब बहार दिखाई। एक ने अपने वाक्य-विस्तार का प्रकांड तांडव दिखाकर मस्तिष्क को मथ डाला, दूसरे ने चुभते हुए छोटे छोटे वाक्यों में अजब रोशनी घुमाई। एक ने अपने द्रविड़-प्राणायामी विधान से लोगों को व्यस्त कर दिया, दूसरे ने रचना-प्रणाली द्वारा अखबारी दुनिया में वह मुहावरेदानी दिखाई कि पढ़नेवालों के उभड़ते हुए दिलों में तूफानी गुदगुदी पैदा हो गई। एक को सुनकर लोगों ने कहना शुरू किया "बस करो! बस करो।" दूसरे को सुनते ही "क्या खूब! भाई जीते रहो!! शाबाश!!!" की आवाजें आने लगीं। इसका कारण केवल एक था, वह यह कि एक तो अपने को संसार से परे रखकर केवल एक शब्द-मय जगत् की रचना करना चाहता था और दूसरा वास्तविक संसार के हृदय से हृदय मिलाकर व्यावहारिक सत्ता का आभास देना चाहता था।

बालमुकुंद गुप्त

गुप्तजी कई वर्षों तक उर्दू समाचारपत्र का संपादन कर चुके थे। वे उर्दू भाषा के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने भाषा को रुचि-पूर्ण बनाना भली भाँति सीख लिया था। मुहावरों का सुंदर और उपयुक्त प्रयोग वे अच्छी तरह जानते थे। नित्य समा-चारपत्र की चलती भाषा लिखते लिखते इन्हें इस विषय में स्वाभाविक ज्ञान प्राप्त हो गया था कि छोटे छोटे वाक्यों में

किस प्रकार भावों का निदर्शन हो सकता है। बीच बीच में मुहावरों के व्यापक प्रयोग से भाषा में किस प्रकार जान डालनी होती है यह भी वे भली भाँति जानते थे। यों तो उनकी रचना में स्थान स्थान पर उर्दू की अभिज्ञता की झलक स्पष्ट पाई जाती है, पर वह किसी प्रकार आपत्तिजनक नहीं है; क्योंकि पहले तो ऐसे प्रयोग कम हैं, दूसरे उनका प्रयोग बड़े सुंदर रूप में हुआ है। इनके वाक्य छोटे होने पर भी संगत और दृढ़ होते थे। इनमें विचारों का निराकरण बड़ा ही स्पष्ट और बोधगम्य होता था। इन्हीं का सहारा लेकर गुप्तजी सुंदर चित्रों का मनोहर रूप अंकित करते थे। जैसे:—

"शर्माजी महाराज बूटी की धुन में लगे हुए थे। सिल बट्टे से भंग रगड़ी जा रही थी। मिर्च मसाला साफ हो रहा था। बादाम इलायची के छिलके उतारे जाते थे। नागपुरी नारंगियाँ छील छील-कर रस निकाला जाता था। इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रही हैं, तबीअत भुरभुरा उठी। इधर घटा, बहार में बहार। इतने में वायु का वेग बढ़ा, चीलें अदृश्य हुईं, अँधेरा छाया, बूँदें गिरने लगीं। साथ ही तड़तड़ धड़धड़ होने लगा, देखो ओले गिर रहे हैं। ओले थमे, कुछ वर्षा हुई। बूटी तयार हुई, बम भोला कह शर्माजी ने एक लोटा भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लालडिग्गी पर बड़े लाट मिंटो ने बंग देश के भूतपूर्व छोटे लाट उडबर्न की मूर्ति खोली। ठीक एक ही समय कलकत्ते में यह दो आवश्यक काम हुए। भेद इतना ही था कि शिवशंभु के बरामदे के छत पर बूँदें गिरती थीं और लार्ड मिंटो के सिर या छाते पर।"

"चिंता-स्रोत दूसरी ओर फिरा। विचार आया कि काल अनंत है। जो बात इस समय है वह सदा न रहेगी। इससे एक समय

अच्छा भी आ सकता है। जो बात आज आठ आठ आँसू रुलाती है वही किसी दिन बड़ा आनंद उत्पन्न कर सकती है। एक दिन ऐसी ही काली रात थी। इससे भी घोर अँधेरी भादों कृष्ण अष्टमी की अर्धरात्रि, चारों ओर घोर अंधकार-वर्षा होती थी बिजली कौंदती थी घन गरजते थे। यमुना उत्ताल तरंगों में बह रही थी। ऐसे समय में एक दृढ़ पुरुष एक सद्यजात शिशु को गोद में लिए मथुरा के कारागार से निकल रहा था—वह और कोई नहीं थे यदुवंशी महाराज वसुदेव थे और नवजात शिशु कृष्ण। वही बालक आगे कृष्ण हुआ, ब्रजप्यारा हुआ, उस समय की राजनीति का अधिष्ठाता हुआ। जिधर वह हुआ उधर विजय हुई। जिसके विरुद्ध हुआ पराजय हुई। वही हिंदुओं का सर्वप्रधान अवतार हुआ और शिवशंभु शर्मा का इष्टदेव। वह कारागार हिंदुओं के लिये तीर्थ हुआ।"

इन अवतरणों से इनके भाषा-व्यवहार का पता लग जाता है। अपने विषय को किस प्रकार गुप्तजी छोटे छोटे परंतु शक्तिशाली वाक्यों में प्रकट करते थे। स्थान स्थान पर एक बात दुहरा दी गई है। इससे भाव-व्यंजना में दृढ़ता और विशेषता आ गई है। "जिधर वह हुआ उधर विजय हुई। जिसके विरुद्ध हुआ पराजय हुई।" यहाँ केवल एक ही वाक्य से अभीष्ट अर्थ की पूर्ति हो सकती थी; पर उस अवस्था में उसमें इतना बल संचारित न होता जितना वर्तमान रूप में है। इनकी भाषा का प्रभाव देखकर तो स्पष्ट कहना पड़ता है कि यदि गुप्तजी नाटक लिखते तो भाषा के विचार से अवश्य ही सफल रहते। कथन-प्रणाली का ढंग वार्तिक है। इसके अतिरिक्त भाषा भी बड़ी परिमार्जित पाई जाती है। शैली बड़ी ही चलती और व्यावहारिक है। कहीं भी हमें ऊबड़-

-खावड़ नहीं मिलता। वाक्यों का उतार-चढ़ाव बिलकुल भाव के अनुकूल हुआ है। वास्तव में गुप्तजी की भाषा प्रौढ़ रूप की प्रतिनिधि है। उच्च विचारों का इस प्रकार छोटे छोटे मुहावरेदार वाक्यों में और इतनी सरलता से व्यक्त करना टेढ़ी खीर है।

गुप्तजी आलोचक भी अच्छे थे। भाषा पर अच्छा अधिकार रहने से उनकी आलोचना में भी चमत्कार रहता था। किस बात को किस ढंग से कहना चाहिए इसका विचार वे सदैव रखते थे। साथ ही कथन-प्रणाली रूखी न हो इस विचार से बीच बीच में व्यंग्य के साथ वे विनोद की मात्रा भी पूर्ण रूप में रखते जाते थे। इस प्रकार के लेखों में वे पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाँति भाषा का खिचड़ी रूप ही प्रयोग में लाते थे। क्योंकि वे भी समझते थे कि इस प्रकार उनका लेख साधारणतः अधिक व्यापक एवं व्यावहारिक हो सकेगा। जैसेः—

"सरकार ने भी कवि-वचन-सुधा की सौ कापियाँ खरीदी थीं। जब उक्त पत्र पाक्षिक होकर राजनीति संबंधी और दूसरे लेख स्वाधीन भाव से लिखने लगा तो बड़ा आंदोलन मचा, यद्यपि हाकिमों में बाबू हरिश्चंद्र की बड़ी प्रतिष्ठा थी, वह आनरेरी मैजिस्ट्रेट नियुक्त किए गए थे तथापि वह निडर होकर लिखते रहे और सर्व साधारण में उनके पत्र का आदर होने लगा। यद्यपि हिंदी भाषा के प्रेमी उस समय बहुत कम थे तो भी हरिश्चंद्र के ललित ललित लेखों ने लोगों के जी में ऐसी जगह कर ली थी कि कवि-वचन-सुधा के हर नंबर के लिये लोगों को टकटकी लगाए रहना पड़ता था। जो लोग राजनीतिक दृष्टि से उसे अपने विरुद्ध समझते थे वह भी प्रशंसा करते थे। दुःख

की बात है कि बहुत जल्द कुछ चुगुलखोर लोगों की दृष्टि उस पर पड़ी। उन्होंने कवि-वचन-सुधा के कई लेखों को राजद्रोहपूरित बताया, दिल्लगी की बातों को भी वह निंदासूचक बताने लगे। मरसिया नामक एक लेख उक्त पत्र में छपा था, यार लोगों ने छोटे लाट सर विलियम म्योर को समझाया कि यह आप ही की खबर ली गई है। सरकारी सहायता बंद हो गई। शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर केंपसन साहब ने बिगड़कर एक चिट्ठी लिखी। हरिश्चंद्रजी ने उत्तर देकर बहुत कुछ समझाया बुझाया। पर वहाँ यार लोगों ने जो रंग चढ़ा दिया था वह न उतरा। यहाँ तक कि बाबू हरिश्चंद्रजी की चलाई "हरिश्चंद्र-चंद्रिका" और "बालाबोधिनी" नामक दो मासिक पत्रिकाओं की सौ सौ कापियाँ प्रांतीय गवर्नमेंट लेती थी वह भी बंद हो गई।")

सन् १६०० ई०

प्रत्येक विषय के इतिहास में एक सामान्य बात दिखाई पड़ती है; वह यह है कि काल-विशेष में उसके भीतर एक ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है जब कि अकस्मात् कुछ ऐसे कारण उपस्थित हो जाते हैं जिनसे एक प्रबल परिवर्तन हो जाता है। ये कारण वस्तुतः कुछ दिनों से उपस्थित रहते हैं, परंतु अवसर-विशेष पर ही उनसे प्रेरित किसी घटना का विस्फोट होता है। यही नियम साहित्य के इतिहास में भी घटित होता है। उसमें भी किसी विशेष समय पर कई कारणों के आकस्मिक संघर्ष से विशेष उलट-फेर हो जाता है। हिंदी गद्य के धारावाहिक इतिहास में सन् १६०० ई० वास्तव में इसी प्रकार का समय विशेष था। यों तो लेखन-कला के प्रसार का आरंभ बहुत समय पूर्व ही हो चुका था, और अब तक कितने ही प्रतिभाशाली

लेखक उत्पन्न हो चुके थे जो अपनी रचनाओं की विशेषता की छाप हिंदी-साहित्य पर लगा चुके थे; परंतु सन् १९०० में न्यायालयों में हिंदी का प्रवेश, काशी की नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा सरकार की सहायता से हिंदी की हस्तलिखित पुस्तकों की खोज और प्रयाग में 'सरस्वती' ऐसी अध्यवसायी पत्रिका का प्रकाशन एक साथ ही आरंभ हुआ। गद्य की व्यापकता का क्रमिक विकास होते देखकर सतर्क लेखकों के हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ कि भाषा की व्यवस्था आवश्यक है।

अभी तक तो गद्य की रचना का कोई संशोधित स्वरूप स्थिर नहीं हुआ था। लोगों का ध्यान केवल इसी ओर था कि विविध प्रकार के भावों को व्यंजित करने की शक्ति भाषा में उत्पन्न हो। पहले उसका कोई रूप स्थिर हो तब उसका विहित रूप से नियंत्रण हो। यही कारण है कि उस समय के प्रधान लेखकों में प्रायः व्याकरण की अवहेलना पाई जाती है। गुण-वाचक 'शांत' को 'शांति' भाववाचक संज्ञा, और 'नाना देश में', 'श्यामताई', 'जात्याभिमान', 'उपरोक्त', 'इच्छा किया', 'आशा किया' आदि प्रयोग भाषा व्याकरण की अवहेलना के स्पष्ट परिचायक हैं। इस प्रकार की त्रुटियाँ कुछ तो प्रमाद-वश हुई हैं और कुछ व्याकरण की अज्ञानता के कारण। इसके अतिरिक्त विरामादिक चिह्नों के प्रयोग के विषय में भी इस समय के लेखक विचारहीन थे। प्रत्येक लंबे वाक्य के वाक्यांशों के बीच कुछ चिह्नों की आवश्यकता अवश्य पड़ती है, क्योंकि इनकी सहायता से हमें यह शीघ्र ही ज्ञात हो जाता है कि एक वाक्यांश का संबंध दूसरे वाक्यांश के साथ किस प्रकार का है और उसका साधारण

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी

स्थान क्या है। इन चिह्नों के अभाव में सदैव इस बात की आशंका बनी रहेगी कि वाक्य का वस्तुतः अभीष्ट अर्थ क्या है। साथ ही ऐसे अवसर उपस्थित हो सकते हैं कि उनका साधारण अर्थ ही समझना कठिन हो जाय। यदि व्याकरण के इस अंग पर ध्यान दिया जाता तो संभव है कि पंडित प्रताप-नारायण मिश्र की शैली अधिक व्यवस्थित तथा स्पष्ट होती। मिश्रजी इन चिह्नों का केवल कहीं कहीं प्रयोग करते थे। इन चिह्नों के सामान्य संस्थापन एवं व्यवहार के अभाव के कारण उनकी भाषा-शैली की व्यावहारिकता एवं बोधगम्यता नष्ट हो गई है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

गद्य के इस वर्तमान काल में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का स्थान बड़े महत्त्व का है। पूर्व काल में भाषा की जो साधारण शिथिलता थी अथवा व्याकरण-संबंधी जो निर्बलता थी उसका परिहार द्विवेदीजी के मत्थे पड़ा। अभी तक जो जैसा चाहता था, लिखता रहा। कोई उसकी आलोचना करनेवाला न था। अतएव इन लेखकों की दृष्टि भी अपनी त्रुटियों की ओर नहीं गई थी। द्विवेदीजी ऐसे सतर्क लेखक इसकी अवहेलना न कर सके, अतएव इन्होंने उन लेखकों की रचना-शैली की आलो-चना आरंभ की जो कि व्याकरणगत दोषों का विचार अपनी रचनाओं में नहीं करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि लोग सँभलने लगे और लेखादि विचारपूर्वक लिखे जाने लगे। उन साधारण दुर्बलताओं का क्रमशः नाश होने लगा जिनका कि हरिश्चंद्र काल में प्राबल्य था। सतर्क होकर लिखने से विरा-मादिक चिह्नों का प्रयोग व्यवस्थित रूप में होने लगा, साधा-रणतः लेख सुस्पष्ट और शुद्ध होने लगे। इसके अतिरिक्त

इन्होंने गद्य-शैली के विकास के विचार से भी स्तुत्य कार्य किया। इस समय तक विशेष विशेष विषयों की शैलियाँ निश्चित नहीं हुई थीं। यों तो भाषा भाव के अनुकूल स्वभावतः हुआ ही करती है, परंतु आदर्श के लिये निश्चित स्वरूप उपस्थित करना आवश्यक होता है। यह कार्य द्विवेदीजी ने किया।

भाषा की विशुद्धता के विचार से द्विवेदीजी उदार विचार के कहे जायँगे। अपने भाव-प्रकाशन में यदि केवल दूसरी भाषा के शब्दों के प्रयोग से ही विशेष बल के आने की संभावना हो तो उचित है कि वे शब्द अवश्य व्यवहार में लाये जायँ। द्विवेदीजी साधारणतः हिंदी, उर्दू, अँगरेजी आदि सभी भाषाओं के शब्दों का व्यवहार करते हैं। परंतु ऐसा वे स्थान स्थान पर उपयुक्तता के विचार से करते हैं। इसके अतिरिक्त उनका शब्द-चयन बड़ा शक्तिशाली और व्यवस्थित होता है। प्रत्येक शब्द शुद्ध रूप में लिखा जाता है, और ठीक उसी अर्थ में जो अर्थ अपेक्षित रहता है। इनकी वाक्य-रचना भी विशुद्ध होती है। उसमें कहीं भी उर्दू ढंग का विन्यास न मिलेगा। शब्दों के अच्छे उपयोग और गठन से सभी वाक्य दृढ़ एवं भाव-प्रदर्शन में स्पष्ट होते हैं। छोटे छोटे वाक्यों में कांति तथा चमत्कार लाते हुए गूढ़ विषयों तक की सम्यक् अभिव्यंजना करना द्विवेदीजी के बाएँ हाथ का खेल है। इनके वाक्यों में ऐसी उठान और प्रगति दिखाई पड़ती है जिससे भाषा में वही बल पाया जाता है जो अभिभाषण में। पढ़ते समय एक प्रकार का प्रवाह दिखाई पड़ता है। उनके वाक्यों में शब्द भी इस प्रकार बैठाए जाते हैं कि यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि वाक्य के किस शब्द पर

कितना बल देना उपयुक्त होगा; और वाक्य को किस प्रकार पढ़ने से उस भाव की व्यंजना होगी जो लेखक को अभिप्रेत है।

द्विवेदीजी के पूर्व के लेखकों को जब हम वाक्य-रचना एवं व्याकरण में अपरिपक्व पाते हैं तब उनमें वाक्य-सामंजस्य खोजना अथवा वाक्य-समूह का विभाजन तथा विन्यास देखना व्यर्थ ही है। एक विषय की विवेचना करते हुए उसके किसी अंग का विधान कुछ वाक्य-समूहों में और उस अंग के किसी एक अंश का विधान एक स्वतंत्र वाक्य-समूह में सम्यक् रूप से करना तथा इस विवेचन-परंपरा का दूसरे वाक्य-समूह की विवेचन-परंपरा के साथ सामंजस्य स्थापित करना द्विवेदीजी ने आरंभ किया। इस विचार से इनकी भाषा में सामंजस्य का सुंदर प्रसार पाया जाता है। उसमें अनोखापन और चमत्कार आ गया है। इसी के साथ हम यह भी देखते हैं कि इनकी रचना में स्थान स्थान पर एक ही बात भिन्न भिन्न शब्दों में बार बार कही गई है। इससे भाव तो स्पष्टतया बोधगम्य हो जाता है पर कभी कभी एक प्रकार की विरक्ति सी होने लगती है। साधारणतः देखने से ही यह ज्ञात हो जाता है कि द्विवेदीजी ने आधुनिक गद्य-रचना को एक स्थिर रूप दिया है। इन्होंने उसका संस्कार किया; उसे व्याकरण और भाषा संबंधी भूलों से निवृत्त कर विशुद्ध किया और मुहावरों का चलती भाषा में सुंदरता से उपयोग कर उसमें बल का संचार किया। सारांश यह कि इन्होंने भाषा-शैली को एक नवीन रूप देने की पूर्ण चेष्टा की। उसको परिमार्जित, विशुद्ध एवं चमत्कारपूर्ण बनाकर भी व्यवहार-क्षेत्र के बाहर नहीं जाने दिया।

भाव-प्रकाशन के तीन प्रकार होते हैं—व्यंग्यात्मक, आलोचनात्मक और गवेषणात्मक। इन तीनों प्रकारों के लिये द्विवेदीजी ने तीन भिन्न भिन्न शैलियों का विधान रखा। इस प्रकार के कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि इस प्रकार की शैलियाँ इनके पूर्व प्रयुक्त ही नहीं हुई थीं, वरन् विचार यह है कि उनको निश्चयात्मक रूप अथवा स्थिरता नहीं प्राप्त हुई थी। इन तीनों शैलियों की भाषा भी भिन्न प्रकार की है। भाव के साथ साथ उसमें भी अंतर उपस्थित हुआ है। यह स्वाभाविक भी है। उनकी व्यंग्यात्मक शैली की भाषा एकदम व्यावहारिक है। जिस भाषा में कुछ पढ़ी-लिखी, अँगरेजी का थोड़ा-बहुत ज्ञान रखनेवाली, साधारण जनता बातचीत करती है, उसी का उपयोग इस शैली में किया गया है। इसमें उछल-कूद, वाक्य-सरलता एवं लघुता के साथ साथ भाव-व्यंजना की प्रणाली भी सरल पाई जाती है। भाषा इसकी मानो चिकोटी काटती चलती है। इसमें एक प्रकार का मसखरापन कूट कूटकर भरा रहता है। व्यंग्य भाव भी स्पष्ट समझ में आ जाता है।

"इस म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन (जिसे अब कुछ लोग कुरसीमैन भी कहने लगे हैं) श्रीमान् बूचा शाह हैं। बाप-दादे की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा है। पढ़े-लिखे आप राम का नाम ही हैं। चेयरमैन आप सिर्फ़ इसलिये हुए हैं कि अपनी कारगुज़ारी गवर्नमेंट को दिखाकर आप रायबहादुर बन जायँ और ख़ुशामदियों से आठ पहर चौंसठ घड़ी घिरे रहें। म्युनिसिपैलिटी का काम चाहे चले चाहे न चले, आपकी बला से। इसके एक मेंबर हैं बाबू बख्शिशराय। आपके साले साहब ने फ़ी रुपए तीन-चार पंसेरी का

भूसा (म्युनिसिपैलिटी को) देने का ठीका लिया है। आपका पिछला बिल १० हज़ार रुपए का था। पर कूड़ा-गाड़ी के बैलों और भैंसों के बदन पर सिवा हड्डी के मांस नज़र नहीं आता। सफ़ाई के इंसपेक्टर हैं लाला सतगुरुदास। आपकी इंसपेक्टरी के ज़माने में, हिसाब से कम तनख़्वाह पाने के कारण, मेहतर लोग तीन दफ़े हड़ताल कर चुके हैं। फ़ज़ूल ज़मीन के एक टुकड़े का नीलाम था। सेठ सर्वसुख उसके ३ हज़ार देते थे। पर उन्हें वह टुकड़ा न मिला। उसके ६ महीने बाद म्युनिसिपैलिटी के मेंबर पं० सत्यसर्वस्व के ससुर के साले के हाथ वही ज़मीन एक हज़ार पर बेंच दी गई।"

इस वाक्य-समूह के शब्द शब्द में व्यंग की झलक पाई जाती है। शब्दावली के संचय में भी कुशलता है; क्योंकि उसमें यहाँ विशेष बल दिखाई पड़ता है। इसके उपरांत जब हम उनकी उस शैली के स्वरूप पर विचार करते हैं जिसका उपयोग उन्होंने प्राय: अपनी आलोचनात्मक रचनाओं में किया है तो हमें ज्ञात होता है कि इसी भाषा को कुछ और गंभीर तथा संयत करके, उसमें से मसखरापन निकालकर उन्होंने एक सर्वांग नवीन रूप का निर्माण कर लिया है। भाषा का वही स्वरूप और वही मुहावरेदानी है परंतु कथन की प्रणाली आलोचनात्मक तथा तथ्यातथ्य-निरूपक होने के कारण गांभीर्य और ओज से पुष्ट हो गई। जैसे:—

"इसी से किसी किसी का ख़याल था कि यह भाषा देहली के बाज़ार ही की बदौलत बनी है। पर यह ख़याल ठीक नहीं। भाषा पहले ही से विद्यमान थी और उसका विशुद्ध रूप अब भी मेरठ प्रांत में बोला जाता है। बात सिर्फ़ यह हुई कि मुसलमान जब यह बोली बोलने लगे तब उन्होंने उसमें अरबी-फ़ारसी के शब्द मिलाने शुरू कर दिए,

जैसे कि आजकल संस्कृत जाननेवाले हिंदी बोलने में आवश्यकता से ज़ियादा संस्कृत शब्द काम में लाते हैं। उर्दू पश्चिमी हिंदुस्तान के शहरों की बोली है। जिन मुसलमानों या हिंदुओं पर फ़ारसी भाषा और सभ्यता की छाप पड़ गई है वे, अन्यत्र भी, उर्दू ही बोलते हैं। बस, और कोई यह भाषा नहीं बोलता। इसमें कोई संदेह नहीं कि बहुत से फ़ारसी-अरबी के शब्द हिंदुस्तानी भाषा की सभी शाखाओं में आ गए हैं। अपढ़ देहातियों ही की बोली में नहीं, किंतु हिंदी के प्रसिद्ध प्रसिद्ध लेखकों की परिमार्जित भाषा में भी अरबी-फ़ारसी के शब्द आते हैं। पर ऐसे शब्दों को अब विदेशी भाषा के शब्द न समझना चाहिए। वे अब हिंदुस्तानी हो गए हैं और उन्हें छोटे छोटे बच्चे और स्त्रियाँ तक बोलती हैं। उनसे घृणा करना या उन्हें निकालने की कोशिश करना वैसी ही उपहासास्पद बात है जैसी कि हिंदी से संस्कृत के धन, वन, हार और संसार आदि शब्दों को निकालने की कोशिश करना है। अँगरेज़ी में हज़ारों शब्द ऐसे हैं जो लैटिन से आए हैं। यदि कोई उन्हें निकाल डालने की कोशिश करे तो कैसे कामयाब हो सकता है।"

अधिकांश रूप में द्विवेदीजी की शैली यही है। उनकी अधिक रचनाओं में एवं आलोचनात्मक लेखों में इसी भाषा का व्यवहार हुआ है। इसमें उर्दू के भी तत्सम शब्द हैं और संस्कृत के भी। वाक्यों में बल कम नहीं हुआ परंतु गंभीरता का प्रभाव बढ़ गया है। इस शैली के संचार में वह उच्छृंखलता नहीं है, वह व्यंग्यात्मक मसखरापन नहीं है जो पूर्व के अवतरण में था। इसमें शक्तिशाली शब्दावली में विषय का स्थिरतापूर्वक प्रतिपादन हुआ है; अतएव भाषा-शैली भी अधिक संयत तथा धारावाहिक हुई है। इसी शैली में जब वे उर्दू की तत्स-

मता निकाल देते हैं और विशुद्ध हिंदी का रूप उपस्थित करते हैं तब हमें उनकी गवेषणात्मक शैली दिखाई पड़ती है। यों तो भाव के अनुसार भाव-व्यंजना में भी दुरूहता आ ही जाती है, परंतु द्विवेदीजी की लेखन-कुशलता एवं भावों का स्पष्टीकरण एकदम स्वच्छ तथा बोधगम्य होने के कारण सभी भाव सुलझी हुई लड़ियों की भाँति पृथक् पृथक् दिखाई पड़ते हैं। यों तो इस शैली में भी दो एक उर्दू के शब्द आ ही जाते हैं पर वे नहीं के बराबर हैं। इसकी भाषा और रचना-प्रणाली ही चिल्लाकर कहती है कि इसमें गंभीर विषय का विवेचन हो रहा है। परंतु द्विवेदीजी की साधारण शैली के अनुसार यह कुछ बनावटी अथवा गढ़ी हुई ज्ञात होती है। जैसे:—

"अपस्मार और विक्षिप्तता मानसिक विकार या रोग हैं। उनका संबंध केवल मन और मस्तिष्क से है। प्रतिभा भी एक प्रकार का मनोविकार ही है। इन विकारों की परस्पर इतनी संलग्नता है कि प्रतिभा को अपस्मार और विक्षिप्तता से अलग करना और प्रत्येक का परिणाम समझ लेना बहुत ही कठिन है। इसी लिये प्रतिभावान् पुरुषों में कभी कभी विक्षिप्तता के कोई कोई लक्षण मिलने पर भी मनुष्य उनकी गणना बावलों में नहीं करते। प्रतिभा में मनोविकार बहुत ही प्रबल हो उठते हैं। विक्षिप्तता में भी यही दशा होती है। जैसे विक्षिप्तों की समझ असाधारण होती है अर्थात् साधारण लोगों की सी नहीं होती, एक विलक्षण ही प्रकार की होती है, वैसे प्रतिभावानों की भी समझ असाधारण होती है। वे प्राचीन मार्ग पर न चलकर नए नए मार्ग निकाला करते हैं; पुरानी लीक पीटना उनको अच्छा नहीं लगता। प्रतिभाशाली कवियों के विषय में किसी ने सत्य कहा है—

लीक लीक गाड़ी चलै लीकहि चलै कपूत।
विना लीक के तीन हैं शायर, सिंह, सपूत ॥

जिनकी समझ और जिनकी प्रज्ञा साधारण है, वे सीधे मार्ग का अतिक्रमण नहीं करते; विक्षिप्तों के समान प्रतिभावान् ही आकाश-पाताल फाँदते फिरते हैं। इसी से विक्षिप्तता और प्रतिभा में समता पाई जाती है।"

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी तक जितना हिंदी गद्य का विकास हो चुका था उसको देखने से यह स्पष्ट होता है कि साधारणतः भाषा में लचरपन नहीं रह गया था। उसमें प्रौढ़ता आ गई थी।

अंबिकादत्त व्यास

परंतु पंडित अंबिकादत्त व्यास ऐसे लेखक, अपवाद-स्वरूप, इस समय भी भाषा की प्राचीनता का आभास दे रहे थे। व्यासजी की भाषा में जो चलतापन और सारल्य था वह बड़ा आकर्षक था। वक्तृता की भाषा में जो एक प्रकार का बल विशेष पाया जाता है वह इनमें अधिकांश रूप में मिलता है। स्थान स्थान पर एक ही बात को वे पुनः इस प्रकार और इस विचार से दोहरा देते थे कि उसमें कुछ विशेष शक्ति उत्पन्न हो जाती थी। यह सब होते हुए भी उनमें त्रुटियाँ अधिक थीं, जो वस्तुतः भाषा की उस उन्नत अवस्था के मेल में न थीं जो उनके समय तक उपस्थित हो चुकी थी। वे अभी तक 'इतने', 'उतने', 'के' (कर), 'सो' (अतः अथवा वह), 'रहैं', 'चाहैं', 'वेर' इत्यादि का ही प्रयोग करते थे। 'तो' और 'भारी' की ऐसी अव्यवस्थित भरमार इन्होंने की है कि भाषा में गवाँरूपन और शिथिलता आ गई है। विरामादिक चिह्नों का भी व्यवहार वे उचित स्थान पर नहीं करते थे। "भगवान के शरण",

"सूचना करने (देने) वाली", "दर्शन किए" भी लिखते थे। इसके अतिरिक्त स्थान स्थान पर विभक्तियों के भद्दे अथवा अव्यवहार्य प्रयोग प्रायः मिलते हैं। जैसे—'उसी को दिवाली अन्नकूट होता है' (उसी के लिये दिवाली में अन्नकूट होता है)। इतना ही नहीं, कहीं कहीं विभक्तियों को छोड़ भी जाते थे; जैसे—'उसी नाम ले' (उसी का नाम लेकर) इत्यादि। यह सब विचार कर यही कहा जा सकता है कि इनकी भाषा बड़ी भ्रामक हुई है। भ्रामक इस विचार से कि अपने समय का वह स्पष्ट बोध नहीं करा सकती। उसको पढ़कर यह कोई नहीं कह सकता कि यह उस समय की भाषा है जिस समय गद्य में प्रौढ़ता उत्पन्न हो चली थी। उनकी भाषा का एक ऐसा अवतरण उपस्थित किया जाता है जिसमें उनकी सभी विशेषताओं का स्वरूप दिखाई पड़ेगा।

"अब फिर उसी प्रश्न की परीक्षा कीजिए देखिए उसमें एक और कितनी बड़ी भारी भूल है। प्रश्न यह है कि "दूसरे के पूजन से दूसरे का संतोष कैसे"। प्रश्नकर्त्ता का तात्पर्य ऐसा जान पड़ता है कि तुम पत्थर मिट्टी की पूजा करते हो इससे वह क्योंकर प्रसन्न हो सकता है ? पर यह कैसी भूल है !! हम कभी पत्थर मिट्टी की पूजा नहीं करते किंतु पत्थर मिट्टी के आश्रय से उसी सच्चिदानंद परम पुरुषोत्तम की पूजा करते हैं। जिस प्राणप्यारे से मिलने की हमें जन्म-जन्मांतर से प्यास चली आती है और जिसके बिना हमें जगत् कष्टर सा जान पड़ता है उसे हम सर्वव्यापक सुनते हैं। हम हाथ जोड़ सिर झुका प्रणाम करना चाहते हैं पर उस सर्वव्यापक को प्रणाम करने के लिये हमारे सिर और हाथ सर्वव्यापक हो नहीं सकते। हम जब सिर झुकावेंगे तो

किसी एक ही दिशा की ओर झुकेगा और हाथ भी एक ही ओर जुड़ेगा तो क्या हम हकपकाकर चुप रह जायँ अथवा प्रणाम करें ? चुप रहने से तो भया बस नास्तिक के भी परदादा भए ईश्वर को माना जैसे न माना और सिर झुकाया तो आप ऐसे बुद्धि के अजीर्णवाले पुरुष कह उठगे कि आप तो दिक्पूजक हैं यदि हम ईश्वराय नमः कहेंगे तो आप कहेंगे कि आप तो ई—श्व—र इन अक्षरों के पूजक हैं। पर क्या सचमुच आप ऐसी टोंकटांक कर सकते हैं ! कभी नहीं; क्योंकि संसार में कोई ऐसा है ही नहीं जो ईश्वर के प्रतिनिधि शब्दों के झमेले में न पड़ा हो। मूर्तिपूजा से हमारा तात्पर्य है कि किसी प्रतिनिधि के द्वारा ईश्वर का पूजन। हमारे आप के इतना ही भेद रहा कि—नाम रूप दो प्रतिनिधि होते हैं सो आप नाम प्रतिनिधि तक ही पहुँचे हम रूप प्रतिनिधि तक मानते हैं। और किसी मूर्ति को उसी का प्रतिनिधि मान मूर्ति के द्वारा उसी का पूजन करते हैं न कि दूसरे के पूजन से दूसरे को संतोष पहुँचाते हैं।"

इस अवतरण के पढ़ते ही यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि कोई तार्किक किसी विषय पर वाद-विवाद कर रहा है। तर्क और वाद-विवाद का यह रूप आर्य समाज के प्रचार से प्राप्त हुआ था। इसका रूप रंग हमें उस समय के उन सभी लेखकों में मिलता है जो विषय के खंडन-मंडन की ओर झुके थे। व्यासजी की सरल भाषा इस विषय में बड़ी बलिष्ठ थी। तर्कना शक्ति का प्रभाव उनकी भाषा में स्पष्ट रूप से झलक रहा है। यह सब होते हुए भी उनमें पंडिताऊपन इतना प्रचंड दिखाई पड़ता है कि कहीं कहीं बुरा ज्ञात होने लगता है। "इससे वह क्योंकर प्रश्न हो सकता है", "तो भया नास्तिक के भी परदादा भए", "कहेंगे," "उठेंगे," "हमारे

आपके इतना ही भेद रहा", "सो" इत्यादि पद अथवा शब्द केवल व्यासों की कथा-वार्ता में ही प्रयुक्त होने योग्य हैं, न कि गंभीर विषय के विवेचन में। वस्तुतः इस पंडिताऊपन के कारण व्यासजी की भाषा अपने समय से बहुत पिछड़ी हुई ज्ञात होती है। इतना ही नहीं वरन् उसमें एक प्रकार की शिथिलता पाई जाती है, जो उस समय की गद्योन्नति के प्रतिकूल थी। इस प्रकार की भाषा उस काल की प्रतिनिधि नहीं मानी जा सकती।

देवकीनंदन खत्री

गद्य-शैली की आलोचना करते हुए कोई भी लेखक बाबू देवकीनंदन खत्री को नहीं छोड़ सकता। इसलिये नहीं कि उन्होंने हिंदी-साहित्य में कोड़ी दो कोड़ी पुस्तकें उपस्थित की हैं; अथवा किसी ऐसी नवीन अनुभूति की आकर्षक व्यंजना की है कि हम वास्तव में नवीन कल्पना की अनुभूति में व्यस्त हो जाते हैं अथवा इसलिये नहीं कि उन्होंने अपना पाठकजगत् निर्माण किया अथवा साहित्य के एक अंग की पुष्टि की, वरन् इसलिये कि उन्होंने एक ऐसी चलती एवं व्यावहारिक भाषा का उद्घाटन किया कि साधारण से साधारण जनता भी उनकी रचनाओं के पढ़ने में आकृष्ट हो गई। यह उनकी भाषा की बोध-गम्यता थी जिसने अपढ़ लोगों में भी यह विचार उत्पन्न कर दिया कि यदि वे हिंदी की वर्णमाला सीख लें तो उन्हें मनोरंजन का बहुत सा मसाला मिल सकता है। भाषा का ऐसा चलता और सुबोध रूप वास्तव में इनके पूर्व नहीं उपस्थित हुआ था। इनकी भाषा शैली में हिंदी उर्दू का अपूर्व सम्मेलन हुआ है। यह लेखक की सफल कुशलता है। इनकी भाषा उपन्यास-

लेखन की परंपरा में रामचरितमानस का कार्य करती है। हिंदी उर्दू का इतना मिला-जुला रूप उपस्थित करने में खत्रीजी ने उत्कृष्ट प्रतिभा का परिचय दिया है। इन्होंने हिंदी और उर्दू के शब्दों को ठीक उसी रूप में प्रयुक्त किया है जिसमें कि वे साधारण बोलचाल में आते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि इनकी रचनाओं की भाषा हम लोगों के नित्य व्यवहार की भाषा जान पड़ती है। इसके अतिरिक्त इन्होंने, आवश्यकता पड़ने पर, स्वाभाविकता के विचार से, अँगरेजी के शब्दों का भी यथास्थान व्यवहार किया है; जैसे—'फ़िलासफ़र', 'कमीशन', 'हिस्ट्री', 'मिस्टरी', 'लाफ़िंग ग्यास' इत्यादि। यह सब कुछ इन्होंने भाषा को चलतापन देने के लिये ही किया है। इस विषय में सिद्धान्त स्वरूप इन्हीं का कथन हम उपस्थित करते हैं—"जो हो भाषा के विषय में हमारा वक्तव्य यही है कि वह सरल हो और नागरी वर्णों में हो। क्योंकि जिस भाषा के अक्षर होते हैं, उनका खिंचाव उन्हीं मूल भाषाओं की ओर होता है जिनसे उनकी उत्पत्ति हुई है।" "किसी दार्शनिक ग्रंथ वा पात्र की भाषा के लिये यदि किसी को कोष टटोलना पड़े तो कुछ परवाह नहीं; परंतु साधारण विषयों की भाषा के लिये भी कोष की खोज करनी पड़े तो निःसंदेह दोष की बात है।"

भाषा को सरल बनाते बनाते इन्होंने भी स्थान स्थान पर व्याकरण की अनेक अशुद्धियाँ की हैं। ये भूलें केवल प्रमाद वश हुई हों ऐसी बात नहीं है। वास्तव में वे भाषा व्याकरण की अज्ञानता के कारण हुई हैं। जैसे—"बड़े खुशी की बात है", "गुरुजी ने मुझे जो कुछ ऐयारी सिखाना था सिखा

चुके", "अपने भाषा को", "कवियों के दृष्टि में" इत्यादि। इसके अतिरिक्त उनकी रचनाओं में अधिकतर "हों" (हो), "के" (कर), "होवेगे" (होगे), "सो" (यह), "को" (से), "करके" मिलता है। "अस्तु" का प्रयोग बिना किसी प्रयोजन के ही हुआ है। इस प्रकार की त्रुटियाँ या तो इसलिये हुई हैं कि ये बोलचाल की प्रगति को अधिक स्थान देना चाहते हैं अथवा उस समय तक गद्य-साहित्य का जो विकास हुआ था उससे ये कुछ दूर थे।

यह सब होते हुए भी इनकी भाषा में न तो किसी प्रकार की जटिलता है और न भाव-प्रकाशन-प्रणाली में कोई क्लिष्टता ही। किसी भी बात को ये सीधे-सादे रूप में ही लिखने में निपुण थे। इनके वाक्य भी सरल और छोटे छोटे होते थे। किसी भाव को घुमा-फिराकर कहना अथवा रचना-चमत्कार दिखाना इनके विचार के विरुद्ध था। इनकी लेखनी का सीधापन देखिए :—

"कुछ दिन की बात है कि मेरे कई मित्रों ने संवादपत्रों में इस विषय का आंदोलन उठाया था कि 'इसका (संतति) कथानक संभव है कि असंभव'। मैं नहीं समझता कि यह बात क्यों उठाई और बढ़ाई गई। जिस प्रकार पंचतंत्र और हितोपदेश बालकों की शिक्षा के लिये लिखे गए उसी प्रकार यह लोगों के मनोविनोद के लिये, पर यह संभव है कि असंभव इस पर कोई यह समझे कि चंद्रकांता और वीरेंद्रसिंह इत्यादि पात्र और उनके विचित्र स्थानादि सब ऐतिहासिक हैं तो बड़ी भारी भूल है। कल्पना का मैदान बहुत विस्तृत है और यह उसका एक छोटा सा नमूना है। अब रही संभव और असंभव की बात अर्थात् कौन सी बात हो सकती है

श्रौर कौन सी नहीं हो सकती ? इसका विचार प्रत्येक पुरुष की योग्यता श्रौर देश-काल-पात्र से संबंध रखता है। कभी ऐसा समय था कि यहाँ के आकाश में विमान उड़ते थे, एक एक वीर पुरुषों के तीरों में यह सामर्थ्य थी कि क्षण मात्र में सहस्रों पुरुषों का संहार हो जाता, पर अब वह बातें खाली पौराणिक कथा समझी जाती हैं। पर दो सौ वर्ष पहले जो बातें असंभव थीं आजकल विज्ञान के सहारे वे सब संभव हो रही हैं। रेल, तार, बिजली आदि के कार्यों को पहले कौन मान सकता था ? श्रौर फिर यह भी है कि साधारण लोगों की दृष्टि में जो असंभव है कवियों के दृष्टि में भी वह असंभव ही रहे, यह कोई नियम की बात नहीं है। संस्कृत साहित्य के सर्वोत्तम उपन्यास कादंबरी की नायिका युवती की युवती ही रही पर उसके तीन जन्म हो गए। तथापि कोई बुद्धिमान् पुरुष इसको दोषावह न समझकर गुणाधायक ही समझेगा। चंद्रकांता में जो बातें लिखी गई हैं वे इसलिये नहीं कि लोग उसकी सचाई झुठाई की परीक्षा करें प्रत्युत इसलिये कि उसका पाठ कौतूहल-वर्धक हो।"

इस अवतरण में तो कुछ संस्कृत की तत्समता का प्राबल्य आ गया है। यह स्वाभाविक है; क्योंकि यहाँ खत्रीजी अपने विराट् उपन्यास के घेरे से बाहर आकर अपने सिद्धांत का प्रतिपादन कर रहे हैं। उनके उपन्यासों की साधारण-भाषा इससे भी सरल है। वस्तुतः उनकी वह भाषा इस योग्य नहीं होती थी कि उसमें तथ्यातथ्य का गवेषणात्मक विवेचन हो सके। यों तो इस अवतरण की भाषा-विशेष का विचार कर आशा की जा सकती है कि यदि अन्य विषयों पर भी वे कुछ लिखते तो संभव है अच्छा लिखते;

परंतु यदि हम केवल उनके उपन्यासों की भाषा पर ही ध्यान दें तो यह निर्विवाद मान लेना पड़ेगा कि वह भाषा गंभीर विचारों के प्रदर्शन में अयोग्य थी। उसमें किसी घटना का वर्णन भली भाँति हो सकता है; और यही हुआ भी है। यही कारण है कि उन्हें सफलता अच्छी मिली है।

'किशोरीलाल गोस्वामी

इसी समय पंडित किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों का प्रकाशन हो रहा था। जिस प्रकार खत्रीजी सरल और व्यावहारिक भाषा के पक्षपाती थे उसी प्रकार गोस्वामीज़ी संस्कृत की तत्समतामय उत्कृष्ट शब्दावली के। "गोस्वामीजी संस्कृत के अच्छे जानकार, साहित्य के मर्मज्ञ तथा हिंदी के पुराने कवि और लेखक हैं" अत: उनकी भाषा भी उसी प्रकार संस्कृत एवं साहित्यिक है। जिस स्थान पर उन्होंने संस्कृत की जानकारी और साहित्य की मर्मज्ञता प्रकट की है वहाँ उनकी भाषा में उत्कृष्टता तो अवश्य उत्पन्न हो गई है परंतु उसी के साथ उसकी व्यावहारिकता लुप्त भी हो गई है। इस स्थान पर उनकी साहित्यिक सेवाओं के विवेचन अथवा हिंदी-साहित्य में उनके स्थान-निदर्शन की चेष्टा नहीं करनी है; इस विचार से तो उनका स्थान बड़े महत्त्व का है। परंतु यदि हम केवल उनकी भाषागत अथवा शैली की विशेषताओं की आलोचना सम्मुख रखें तो यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि उनका कहीं पता भी नहीं। उनकी कोई भाषा विशेष है अथवा नहीं इस विषय पर संदेह किया जा सकता है। इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि उनकी भाव-व्यंजना में कोई वैयक्तिकता तथा चमत्कार नहीं पाया जाता और दूसरी बात यह है कि उनके

हिंदू और मुसलमान दोनों बनने की असंगत इच्छा ने बना-बनाया खेल भी चौपट कर दिया।

उनकी—"रज़िया बेगम" और "मल्लिकादेवी" की—दोनों भाषाओं को पढ़कर कोई भी निश्चयात्मक रूप से विवेचन नहीं कर सकता कि इन दोनों में से कौन गोस्वामीजी की प्रतिनिधि भाषा है। उनके 'रज़िया बेगम' नामक उपन्यास की भाषा एकदम लचर है। "उर्दू ज़बान और शेर सख़ुन की बेढंगी नक़ल से, जो असल से कभी कभी साफ़ अलग हो जाती है, उनके बहुत से उपन्यासों का साहित्यिक गौरव घट गया है।" यदि वे उर्दूदानी दिखाने के विचार से अपनी लेखनी न उठाते तो अवश्य ही उनकी भाषा में क्रमशः वैयक्तिकता का विकास होता। इस अवस्था में दो भिन्न भिन्न शैलियों का रूप सम्मुख देखकर उनकी भाषा का कोई रूप स्थिर करना अनुचित होगा। परंतु इतना मान लेने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई पड़ती कि जिस स्थान पर उनकी भाषा उपन्यास के संकुचित क्षेत्र से अलग थी वह स्वच्छ और चमत्कारपूर्ण बनी रही। स्थान स्थान पर मुहावरेदार होने के कारण उसमें कुछ विशेषता अवश्य आ गई है; परंतु सब मिलाकर वह इतनी बलवती नहीं हो सकी है कि गोस्वामीजी के लिये एक स्वतंत्र स्थान का निर्माण करे। बाबू देवकीनंदनजी की कथात्मक भाषा-शैली से यह अधिक साहित्यिक है, इसमें कोई संदेह नहीं। इसमें विचारात्मक भावनाओं का प्रकाशन अपेक्षाकृत अधिक दिव्यता से हो सकता है। यही कारण है कि उन्होंने चरित्र-चित्रण और घटना का मनोरम रूप से वर्णन इस भाषा में सफलतापूर्वक किया है। उपन्यासों में जहाँ उन्होंने शुद्ध

हिंदी का प्रयोग किया है वहाँ इन बातों का विवेचन अच्छा दिखाई पड़ेगा, और उनके उपन्यासों के बाहर की भाषा कुछ अधिक चलती और धारावाहिक हुई है। जैसे :—

"भारतवर्ष में सदा से सूर्यवंशी और चंद्रवंशी राजाओं का राज्य जब तक स्वाधीन भाव से चला आया, तब तक इस देश में सरस्वती और लक्ष्मी का पूरा पूरा आदर रहा, ब्राह्मणों के हाथ में विधि थी, क्षत्रियों के हाथ में खड्ग था, वैश्यों के हाथ में वाणिज्य था और शूद्रों के हाथ में सेवा धर्म था; किन्तु जब से यह क्रम बिगड़ने लगा ऐक्य के स्थान में फूट ने अपना पैर जमाया और सभी अपने कर्त्तव्य से च्युत होने लगे, देश की स्वतंत्रता भी ढीली पड़ने लगी और बाहरवालों को ऐसे अवसर में अपना मतलब गाँठ लेना सहज हो गया।

"लाखों बरस अर्थात् सृष्टि के आदि से यह (भारतवर्ष) स्वाधीन और सारे भूमंडल पर आधिपत्य करता आया था, पर महाभारत के पीछे यहाँवालों की बुद्धि कुछ ऐसी बिगड़ गई और आपस के फूट के कारण जयचंद ने ऐसा चौका लगाया कि सदा के लिये यह गुलामी की जंजीर से जकड़ दिया गया, जिससे अब इसका छुटकारा पाना कदाचित् कठिन ही नहीं वरन् असंभव भी है।"

अयोध्यासिंह उपाध्याय

पद्य की छाप गद्य पर स्पष्ट पड़ती है। पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय का गद्य इस बात का साक्षी है। गद्य लिखते समय भी उपाध्यायजी का धारा-प्रवाह वस्तुतः पद्यात्मक ही रहता है। पद्य की सी ही लहर, शब्द-संगठन, भावभंगी एवं माधुर्य उनके गद्य में भी मिलता है। गद्यात्मक सौष्ठव का ह्रास और पद्यात्मक विभूति की उत्कृष्टता इनके गद्य में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। इनकी भाव-व्यंजना एवं शब्दों के विशिष्ट प्रयोगों से काव्यात्मक रस की

अनुभूति होती है। यही कारण है कि "कभी कभी वे बड़े असाधारण क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करते हैं।" इसके अतिरिक्त भाव-व्यंजना का प्रकार भी कहीं कहीं इतना पद्यात्मक हो जाता है कि उसे गद्य कहना भ्रमात्मक ज्ञात होता है। वस्तुतः यह शैली गद्य-काव्य में यदि प्रयुक्त हो तो विशेष सुंदर ज्ञात हो। परंतु इतना होते हुए भी उनके भाव-द्योतन में शैथिल्य नहीं दिखाई पड़ता।

कुछ लोगों का कहना है कि "इस प्रकार के गद्य में साधारण विषयों की व्यंजना नहीं हो सकती।" यदि साधारण विषयों से भूगोल तथा इतिहास ऐसे विषयों का तात्पर्य है तो यह कहना समीचीन ज्ञात होता है; क्योंकि इतिवृत्तात्मक कथानक के लिखने में काव्यात्मक व्यंजना का जितना ही लोप हो उतना ही अच्छा है। इसके अतिरिक्त जो लोग इनके गद्य में पंडित रामचंद्र शुक्ल की विशिष्टताएँ चाहते हैं वे भी अन्याय करते हैं। उपाध्यायजी में शब्द-बाहुल्य एवं वाक्य-विस्तार अधिक दिखाई पड़ता है जो कि शुक्लजी के ठीक विपरीत है। परंतु इसके लिये उपाध्यायजी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि दोनों लेखकों के दो भिन्न भिन्न मार्ग और विचार हैं। शुक्लजी विषय-प्रतिपादन में अधिक सतर्क रहते हैं और गागर में सागर भरते हैं। उसी में उन्हें अच्छी सफलता मिली है। उनके शब्द और वाक्य-समूह भाव-गांभीर्य से आक्रांत रहते हैं परंतु उपाध्यायजी में ऐसी बात नहीं दिखाई पड़ती। उनका भाव-निदर्शन अधिक काल्पनिक एवं साहित्यिक होता है। उसमें गद्यात्मक गठन भले ही न हो, परंतु मिठास और काव्यात्मक ध्वनि इतनी रहती है कि पाठक उधर

ही आकृष्ट हो जाता है। इस ध्वनि विशेष के कारण ही उनमें आलंकारिकता तथा सानुप्रासिकता अधिक स्थानों में दिखाई पड़ती है और कथन-प्रणाली विस्तृत होती है। निम्नलिखित गद्यांश में ये बातें स्पष्ट दिखाई पड़ेंगी :—

"कहते व्यथा होती है कि कुछ कालोपरांत हमारे ये दिन नहीं रहे—हममें प्रतिकूल परिवर्तन हुए और हमारे साहित्य में केवल शांत और शृंगार रस की धारा प्रबल वेग से बहने लगी। शांत रस की धारा ने हमको आवश्यकता से अधिक शांत और उनके संसार की असारता के राग ने हमें सर्वथा सारहीन बना दिया। शृंगार रस की धारा ने भी हमारा अल्प अपकार नहीं किया। उसने भी हमें कामिनी-कुल-शृंगार का लोलुप बनाकर समुन्नति के समुच्च शृंग से अवनति के विशाल गर्त में गिरा दिया। इस समय हम अपनी किंकर्तव्यविमूढ़ता, अकर्मण्यता, अकर्मपटुता को साधुता के परदे में छिपाने लगे—और हमारी विलासिता, इंद्रिय-परायणता, मानसिक मलिनता भक्ति के रूप में प्रकट होने लगी। इधर निराकार की निराकारता में रत होकर कितने सब प्रकार बेकार हो गए और उधर आराध्यदेव भगवान् वासुदेव और परम आराधनीया श्रीमती राधिका देवी की आराधना के बहाने पावन प्रेम-पंथ कलंकित होने लगा। न तो लोकपावन भगवान् वासुदेव लौकिक प्रेम के प्रेमिक हैं, न तो वंदनीया वृषभानु-नंदिनी कामनामयी प्रेमिका, न तो भुवन-अभिराम वृंदावन धाम अवैध विलास-वसुंधरा है, न कलकल-वाहिनी कलिंद-नंदिनी-कूल कामकेलि का स्थान। किंतु अनधिकारी हाथों में पड़कर वे वैसे ही चित्रित किए गए हैं। कतिपय महात्माओं और भावुक जनों को छोड़कर अधिकांश ऐसे अनधिकारी ही हैं, और इसलिये उनकी रचनाओं से जनता पथ-च्युत हुई। केहरिपदी के दुग्ध का अधिकारी स्वर्ण-पात्र है, अन्य पात्र उसको पाकर अपनी अपात्रता

प्रकट करेगा। मध्यकाल से लेकर इस शताब्दी के प्रारंभ तक का ही हिंदी-साहित्य उठाकर आप देखें वह केवल विलास का क्रीड़ा-क्षेत्र और काम-वासनाओं का उद्गार मात्र है। संतों की वानी और कतिपय दूसरे ग्रंथ जो हिंदू जाति का जीवनसर्वस्व, उन्नायक और कल्पतरु है, जो आदर्श चरित्र का भांडार और सद्भाव-रत्नों का रत्नागार है, जो आज दस करोड़ से भी अधिक हिंदुओं का सत्पथ-प्रदर्शक है, यदि वह है तो रामचरितमानस है, और वह गोस्वामीजी के महान् तप का फल है।"

इस प्रकार के गद्यांशों में साहित्यिक छटा के अतिरिक्त भाषा-गांभीर्य भी पर्याप्त रूप में दिखाई पड़ता है। इस प्रकार की रचनाओं के प्रवाह में जब कभी 'करके', 'होवे' और 'होता होवे' इत्यादि शब्दों का प्रयोग दिखाई देता है तो पंडिताऊपन की दुर्गंध आने लगती है। परंतु इनका आधिक्य न होने के कारण और तत्समता का बाहुल्य होने से भाषा में शिथिलता नहीं उत्पन्न होने पाती।

उपाध्यायजी ने केवल साहित्यिक गद्य की ही रचना की हो ऐसी बात नहीं है। साधारण जनता के लिये ठेठ भाषा के निर्माण में भी वे सफल हुए हैं। इसके प्रमाण उनके 'ठेठ हिंदी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' नामक उपन्यास हैं। उसमें जिस ठेठ भाषा का प्रयोग हुआ है वह वस्तुतः ग्राम्य जीवन के उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त इधर कुछ दिनों से वे मुहाविरेदार पद्य और गद्य का निर्माण कर रहे हैं। उसमें एक प्रकार की सजीवता विशेष दिखाई पड़ती है। कहीं कहीं तो सारी भाव-व्यंजना ही मुहावरों में हुई है। ऐसे स्थानों पर भाषा गठित और भाव-व्यंजना आकर्षक हुई है। इन स्थानों पर भाषा में साहित्यिकता और गांभीर्य न होकर एक प्रकार की चटपटी

उछल-कूद दिखाई पड़ती है। उसकी व्यंजनात्मक शक्ति ही निराली है। जैसे:—

"हम आसमान के तारे तोड़ना चाहते हैं, मगर काम आँख के तारे भी नहीं देते। हम पर लगाकर उड़ना चाहते हैं, मगर उठाने से पाँव भी नहीं उठते। हम पालिसी पर पालिश करके उसके रंग को छिपाना चाहते हैं, पर हमारी यह पालिसी हमारे बने हुए रंग को भी बदरंग कर देती है। हम राग अलापते हैं मेल-जोल का, मगर न जाने कहाँ का खटराग पेट में भरा पड़ा है। हम जाति जाति को मिलाने चलते हैं, मगर ताब अछूतों से आँख मिलाने की भी नहीं। हम जाति-हित की तानें सुनाने के लिये सामने आते हैं, मगर ताने दे दे कलेजा छलनी बना देते हैं। हम कुल हिंदू जाति को एक रंग में रँगना चाहते हैं, मगर जाति जाति के अपनी अपनी डफली और अपने अपने राग ने रही सही एकता को भी बता बता दिया है। हम चाहते हैं देश को उठाना, पर आप मुँह के बल गिर पड़ते हैं। हमें देश की दशा सुधारने की धुन है, पर आप सुधारने पर भी नहीं सुधरते। हम चाहते हैं जाति की कसर निकालना, मगर हमारे जी की कसर निकाले भी नहीं निकलती। हम जाति को ऊँचे उठाना चाहते हैं, पर हमारी आँख ऊँची होती ही नहीं। हम चाहते हैं जाति को जिलाना, मगर हमें मर मिटना आता ही नहीं।"

इन प्रतिनिधि लेखकों के बीच में अब दो लेखक ऐसे उपस्थित किए जाते हैं जिनका नाम अधिक प्रसिद्ध नहीं है। जिन लोगों ने उनकी रचना-शैली की विशेषता पर विशेष ध्यान नहीं दिया है उन लोगों को संभवत: ज्ञात भी न होगा कि पंडित माधव मिश्र और सरदार पूर्णसिंहजी भी कोई अच्छे लेखक थे। इन दोनों

माधव मिश्र

लेखकों ने इने-गिने लेख लिखे हैं, परंतु उन लेखों में उनका व्यक्तित्व अंतर्निहित है। इन लोगों की कुछ विशेषताएँ ऐसी थीं जिनका आभास और किसी की भी रचना में हम नहीं पाते। इनके थोड़े से लेखों के पढ़ने से ही ज्ञात हो जाता है कि यदि लेखक बराबर अपने निकाले पथ पर चलता तो भाषा की वह दिव्यता दिखाता कि एक बार पढ़नेवाले चकपकाकर दंग रह जाते।

ंडित माधव मिश्र की रचना में चमत्कार का बड़ा ही आकर्षक रूप है। इनकी भाषा बड़ी सतर्क हुई है। स्थान स्थान पर क्रमागत भावोदय का सुंदर चित्र मिलता है। ये अपने प्रतिपाद्य विषय का उत्थान बड़ी गंभीरता और शक्ति के साथ करते थे। इनकी वाक्य-रचना में बड़ा ओज और बड़ी प्रकाशन-शक्ति है। कुछ वाक्य-समूह इस प्रकार ग्रथित मिलते हैं कि उनमें एक ही ढंग का उतार-चढ़ाव पाया जाता है। इससे वाक्य-विन्यास और भी चमत्कारपूर्ण हुआ है। इसी वाक्य-विन्यास के कारण इनकी भाषा-शैली में धारा-प्रवाह का एक बँधा रूप दिखाई पड़ता है। वाक्य-समूह के प्रथम वाक्य से यदि पढ़ना आरंभ किया जाय तो जब तक अंत तक न पहुँचें रुकते नहीं बनता; और यदि रुकें तो यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि विषय अपूर्ण रह गया है। इस धारावाहिक प्रगति के कारण इनकी रचना में एक वैचित्र्य पाया जाता है जिसे हम वैयक्तिकता कह सकते हैं। शब्द-चयन के विचार से हम यह कह सकते हैं कि इनका झुकाव अधिक संस्कृत तत्सम की ओर था। भाषा संस्कृत-बहुला होने पर भी ऊबड़-खाबड़ नहीं होने पाई है। वह बड़ी ही संस्कृत, संयत एवं शिष्ट

हुई है। इस प्रकार की भाषा में किसी गहन विषय का अच्छा विवेचन तथा प्रतिपादन हो सकता है। इसके अतिरिक्त इनकी भाषा इनकी आंतरिक भावनाओं का इतना मार्मिक चित्र उपस्थित करती है कि शब्दावली से स्पष्ट हो जाता है कि लेखक के हृदय में भावावेश की कैसी प्रबलता है। जिस स्थान पर इनके हृदय में करुणात्मक भावोदय का आरंभ होता है वहाँ भाषा में भी एक प्रकार की कारुणिक ज्योति उत्पन्न हो जाती है। जिस स्थान पर हृदय में क्रोध का आवेश रखकर वे लिखते हैं वहाँ की भाषा में भी कुछ उग्रता झलकती है। जैसे—"निरंकुशता और धृष्टता आजकल ऐसी बढ़ी है कि निरर्गलता से ऐसी मिथ्या बातों का प्रचार किया जाता है। इस भ्रांत मत का प्रचार करनेवाले यदि वेबर साहब यहाँ होते तो हम उन्हें दिखाते कि जिसका वे अपनी विषदग्धा लेखनी से जर्मनी में वध कर रहे हैं वह भारतवर्ष में व्यापक और अमर हो रहा है।"

उनकी गद्य-शैली में प्रधान चमत्कार नाटकत्व का है। इस नाटकत्व और वक्तृता की भाषा में विशेष अंतर न मानना चाहिए। श्रोता किसी विषय को सुनकर अधिक प्रभावित हो, केवल इस विचार से एक ही बात को, इधर उधर कई प्रकार से, कई वाक्यों में कहा जाता है। "राम नाम ही अब केवल हमारे संतप्त हृदय को शांतिप्रद है और राम नाम ही हमारे अंधे घर का दीपक है", "यही डूबते हुए भारतवर्ष का सहारा है और यही अंधे भारत के हाथ की लकड़ी है" इत्यादि वाक्यांशों में वक्तृतामय कथन का आभास स्पष्ट मिलता है। इतना ही नहीं, कथन की यही प्रवृत्ति कभी कभी

बड़े विस्तार में उपस्थित होती है। सारांश यह कि मिश्रजी की भाषा बड़ी प्रौढ़, ओजस्विनी, परिमार्जित एवं सतर्क हुई है; उसमें उत्कृष्टता और ओज का अच्छा सम्मेलन है; नाटकत्व और वक्तृत्व का स्थिर सामंजस्य पाया जाता है। एक छोटे से अवतरण से इनकी सारी विशेषताएँ देख ली जा सकती हैं।

"आर्य वंश के धर्म-कर्म और भक्ति-भाव का वह प्रबल प्रवाह—जिसने एक दिन बड़े बड़े सन्मार्ग-विरोधी भूधरों का दर्प दलन कर उन्हें रज में परिणत कर दिया था—और इस परम पवित्र वंश का वह विश्वव्यापक प्रकाश—जिसने एक समय जगत् में अंधकार का नाम तक न छोड़ा था—अब कहाँ है?......जो अपनी व्यापकता के कारण प्रसिद्ध था, अब उस प्रवाह का प्रकाश भारतवर्ष में नहीं है, केवल उसका नाम ही अवशिष्ट रह गया है। कालचक्र के बल, विद्या, तेज, प्रताप आदि सब का चकनाचूर हो जाने पर भी उनका कुछ-कुछ चिह्न व नाम बना हुआ है, यही डूबते हुए भारत का सहारा है और यही अंधे भारत के हाथ की लकड़ी है।

"जहाँ महा महा महीधर ढुलक जाते थे और अगाध अतल-स्पर्शी जल था, वहाँ अब पत्थरों में दबी हुई एक छोटी सी सुशीतल वारिधारा बह रही है जिससे भारत के विदग्ध जनों के दग्ध हृदय का यथाकथंचित् संताप दूर हो रहा है। जहाँ के महा प्रकाश से दिक् दिगंत उद्भासित हो रहे थे, वहाँ अब एक अंधकार से घिरा हुआ स्नेहशून्य प्रदीप टिमटिमा रहा है जिससे कभी कभी भूभाग प्रकाशित हो रहा है। पाठक! जरा विचार कर देखिए, ऐसी अवस्था में यहाँ कब तक शांति और प्रकाश की सामग्री स्थिर रहेगी? यह किससे छिपा हुआ है कि भारतवर्ष की सुख-शांति और भारतवर्ष का प्रकाश अब

केवल 'राम नाम' पर अटका है। राम नाम ही अब केवल हमारे संतप्त हृदय को शांतिप्रद है और राम नाम ही हमारे अंधे घर का दीपक है।" ('रामलीला' शीर्षक लेख से)

मिश्रजी की भाँति सरदार पूर्णसिंह अध्यापक की भी रचना बहुत कम है। परंतु कम होना असामर्थ्य का प्रमाण नहीं; क्योंकि कुछ लोग ऐसे होते हैं कि लिखते तो बहुत कम हैं परंतु उतने में ही अपनी उद्भावना शक्ति एवं प्रतिभा का पूर्ण परिचय दे देते हैं। अध्यापकजी भी इसी प्रकार के लेखकों में से हैं। लिखा तो इन्होंने बहुत कम है परंतु जो कुछ लिखा है—जितने लेख इनके संगृहीत हैं—उनसे यह बात स्पष्ट है कि अध्यापकजी कितनी सुंदर एवं प्रौढ़ रचना कर सकते थे। उनकी लेखनी ने कुछ अंशों में आजकल की एक विशेष प्रवृत्ति का आभास दिया था। आजकल जो भाषा-शैली पांडेय बेचन शर्मा एवं अन्यान्य गल्प-लेखकों में पाई जाती है, जिसमें एक साधारण वाक्य लिखकर उसके जोड़-तोड़ के सैकड़ों वाक्य उपस्थित कर दिए जाते हैं, वही उनकी साधारण रचनाओं में मिलती है। इस प्रणाली के अनुसरण से एक लाभ यह हुआ कि उनकी भाषा अधिक आकर्षक और चमत्कृत हो गई है। जैसे—"इस सभ्यता के दर्शन से कला, साहित्य और संगीत की अद्भुत सिद्धि प्राप्त होती है। राग अधिक मृदु हो जाता है। विद्या का तीसरा शिव-नेत्र खुल जाता है, चित्रकला मौन राग अलापने लग जाती है, वक्ता चुप हो जाता है, लेखक की लेखनी थम जाती है, मूर्ति बनानेवाले के सामने नए कपोल, नए नयन और नवीन छवि का दृश्य उपस्थित हो जाता है।" इसके अतिरिक्त इन्होंने

पूर्णसिंह

अपनी भावनाओं को प्रायः रहस्यमय रूप में व्यक्त किया है। रहस्यमय रूप का तात्पर्य केवल इतना ही है कि शब्द-चयन में जो लाक्षणिक वैलक्षण्य है वह तो है ही, भाव-व्यंजना भी अनूठी और दूर तक बढ़ी हुई है। "नाद करता हुआ भी मौन है", "मौन व्याख्यान", "हृदय की नाड़ी में सुंदरता पिरो देता है", "तारागण के कटाक्षपूर्ण प्राकृतिक मौन व्याख्यान का" इत्यादि वाक्यांशों में विशेषण और विशेष्य के विरोधाभास का विलक्षण प्रसार मिलता है। शब्द-चयन का यह प्रकार और निर्जीव में सजीवता का आभास इनकी रचना में विशेष आकर्षण उपस्थित करता है।

अध्यापकजी की गद्य-शैली की इस एकांत उत्कृष्टता के बीच बीच में व्यंग्यात्मक दृष्टांतों के आ जाने से एक रुचिकर और आकर्षक रूप उपस्थित हो गया है। "यह वह आम का पेड़ नहीं है जिसको मदारी एक क्षण में तुम्हारी आँखों में धूल झोंक अपनी हथेली पर जमा दे" अथवा "पुस्तकों के लिखे नुसख़ों से तो और भी बदहज़मी हो जाती है। सारे वेद पुराण और शास्त्र भी यदि घोलकर पी लिए जायँ तो भी आदर्श आचरण की प्राप्ति नहीं हो सकती", अथवा "परंतु अँगरेजी भाषा का व्याख्यान—चाहे वह कारलायल ही का लिखा हुआ क्यों न हो—बनारस के पंडितों के लिये रामरौला ही है। इसी तरह न्याय और व्याकरण की बारीकियों के विषय में पंडितों के द्वारा की गई चर्चाएँ और शास्त्रार्थ संस्कृत-ज्ञान-हीन पुरुषों के लिये स्टीम इंजिन के फप्-फप् शब्द से अधिक अर्थ नहीं रखते।"

इन वाक्यों में कथन की चामत्कारिक प्रणाली का अच्छा उदाहरण मिल सकता है। मिश्रजी की भाँति इनका भी

झुकाव भाषा की विशुद्धता की ओर अधिक था। जैसा कि साधारणतः अन्य लेखकों में पाया जाता है कि कथानक के वर्णन करने की भाषा सरल एवं अधिक चलती होती है और विचार-प्रकाशन की कुछ अधिक क्लिष्ट और प्रचंड; उसी प्रकार इनकी लेखन-प्रणाली में भी अंतर रहता है। जिस स्थान पर सीधे-सादे कथानक का वर्णन करना है वहाँ वाक्य भी सरल, स्पष्ट तथा अपेक्षाकृत छोटे हुए हैं। जैसे:—

"एक दफे एक राजा जंगल में शिकार खेलते खेलते रास्ता भूल गया। उसके साथी पीछे रह गए। घोड़ा उसका मर गया। बंदूक हाथ में रह गई। रात का समय आ पहुँचा। देश वर्फानी, रास्ते पहाड़ी। पानी बरस रहा है। रात अँधेरी है। ओले पड़ रहे हैं। ठंढी हवा उसकी हड्डी तक को हिला रही है। प्रकृति ने, इस घड़ी, इस राजा को अनाथ बालक से भी अधिक बे-सरो-सामान कर दिया। इतने में दूर एक पहाड़ी की चोटी के नीचे टिमटिमाती हुई बत्ती की लौ दिखाई दी। कई मील तक पहाड़ के ऊँचे-नीचे उतार-चढ़ाव को पार करने से थका हुआ, भूखा और सर्दी से ठिठुरा हुआ राजा उस बत्ती के पास पहुँचा। यह एक गरीब पहाड़ी किसान की कुटी थी। इसमें किसान, उसकी स्त्री और उनके दो-तीन बच्चे रहते थे। किसान शिकारी राजा को अपने झोपड़े में ले गया। आग जलाई। उसके वस्त्र सुखाए। दो मोटी मोटी रोटियाँ और साग आगे रक्खा। उसने खुद भी खाया और शिकारी को भी खिलाया। ऊन और रीछ के चमड़े के नरम और गरम बिछौने पर उसने शिकारी को सुलाया। आप बे बिछौने की भूमि पर सो रहा। धन्य है तू, हे मनुष्य! तू ईश्वर से क्या कम है! तू भी तो पवित्र और निष्काम रक्षा का कर्त्ता है। तू भी आपन्न जनों का आपत्ति से उद्धार करनेवाला है।"

परंतु जिस स्थान पर कुछ विवेचना की आवश्यकता पड़ी है, कुछ गंभीरता अपेक्षित हुई है वहाँ आपसे आप भाषा भी कुछ क्लिष्ट हो गई है और वाक्यों की लघुता भी लुप्त हो गई है। इसके अतिरिक्त कहीं कहीं तो वाक्य-रचना की दुरूहता के कारण रुककर सोचने-विचारने की आवश्यकता पड़ती है। छोटे छोटे वाक्यों में लिखते लिखते अकस्मात् हम देखते हैं कि एक वाक्य इस प्रकार का उपस्थित हो जाता है जो स्वाभाविक गति को रोक देता है। एकाएक इस क्लिष्टता और दुरूहता के कारण भाषा का अधिकार हलका दिखाई पड़ने लगता है और एक प्रकार की अस्वाभाविकता सी जान पड़ने लगती है। इतना ही नहीं, कहीं कहीं पर विभक्तियों की भरमार के कारण भाषा के प्रवाह में रुकावट भी आ गई है। जैसे—"उन सब को जाति के आचरण के विकाश के साधनों के संबंध में विचार करना होगा।" भाव की दुरूहता का प्रभाव वाक्य-रचना और भावभंगी में स्पष्ट दिखाई देता है :—

"अपने जन्म जन्मांतरों के संस्कारों से भरी हुई अंधकारमय कोठरी से निकलकर ज्योति और स्वच्छ वायु से परिपूर्ण खुले देश में जब तक अपना आचरण अपने नेत्र न खोल सका हो तब तक धर्म के गूढ़ तत्त्व कैसे समझ में आ सकते हैं।" "आचरण के विकाश के लिये नाना प्रकार की सामग्री का जो संसार-संभूत, शारीरिक, प्राकृतिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन में वर्तमान है, उन सब का क्या एक पुरुष और क्या एक जाति के—आचरण के विकाश के साधनों के संबंध में, विचार करना होगा।" "मानसोत्पन्न शरदृतु के क्लेशातुर हुए पुरुष इसकी सुगंधमय अटल वसंत ऋतु के आनंद का पान करते हैं।"

बाबू श्यामसुन्दरदास

भाषा भाव की अनुरूपिणी होती है। जैसा विषय होता है वैसी ही भाषा भी आवश्यक होती है। इसके लिये लेखक को चेष्टा नहीं करनी पड़ती। यह बहुत कुछ स्वाभाविक होता है। बहुत दिनों तक कथा कहानी उपन्यास नाटक एवं अन्य प्रकार के साधारण विषयों का ही प्रणयन होता रहा। साधारण से मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि ऐसे विषयों का लिखना अत्यंत सरल है, वरन् मेरा अभिप्राय केवल यह है कि इनमें घटनाओं का सीधा-सादा वर्णन रहता है। सीधे सीधे किसी विषय का विवरण देना अथवा कथानक उपस्थित करना अपेक्षाकृत उतना कठिन कार्य नहीं है। प्रणयन-समय तक भाषा में जितनी प्रौढ़ता वर्तमान है उसका आश्रय लेकर इन विषयों का विवरण देना अधिक दुरूह नहीं होता। कोई समय ऐसा था कि कथा-कहानियों का लिखना भी बड़ी बात थी; परंतु आज भाषा का साम्राज्य पर्याप्त रूप से विस्तृत हो चुका है और अनेक प्राचीन विषयों की पुनरावृत्ति एवं नवीन विषयों का समारंभ हो चला है। इस समय यदि भाषा की प्रौढ़ता तथा उद्भावना-शक्ति की परीक्षा करनी हो तो हमें उन रचनाओं की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक होगा जो वस्तुतः इस काल की संपत्ति हैं और जिन पर अभी तक कुछ विशेष लिखा नहीं गया है।

श्यामसुंदरदास

नवीन विचार-धारा को व्यक्त करने के लिये भाषा का कोई नया ढंग पकड़ना पड़ता है। ऐसी अवस्था में लेखक के उत्तरदायित्व की परिधि अत्यंत विस्तृत हो जाती है। उसे भाषा में कुछ विशेष विधान उपस्थित करना पड़ता है। उसके लिये भावों का नियंत्रण आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त

उसका यह कर्त्तव्य होता है कि भाव-व्यंजना का वह ऐसा सरल रूप सम्मुख रखे जिसका आश्रय लेकर पाठक उन नवीन विषयों की सम्यक् अनुभूति कर सके।

इस प्रकार के लेखक का उत्तरदायित्व बड़ी महत्ता का होता है। बाबू श्यामसुंदरदासजी इसी प्रकार के लेखकों में हैं। उन्हें भाषा को व्यापक बनाना पड़ा है; क्योंकि जिन विषयों पर उन्हें लिखना था उन विषयों का अभी तक हिंदी-साहित्य में जन्म ही नहीं हुआ था, उन्हें लिखकर समझाने का अवसर ही नहीं आया था। इसके अतिरिक्त उन्हें इस बात का विशेष ध्यान रखना पड़ा है कि विषय का भली भाँति निदर्शन हो—और वह निदर्शन भी इतनी सरलता से हो कि नवीन पाठक उसे भली भाँति समझ लें। यही कारण है कि इनकी शैली में हम उन्हें एक ही विषय को बार बार समझाते हुए पाते हैं। इसके अतिरिक्त स्थान स्थान पर "सारांश यह है" कहकर वे पुनः प्रतिपादित विषय को एकत्र करने की चेष्टा करते हैं। यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि लिखते समय लेखक इस विषय में अधिक सचेष्ट है कि कहीं भावों की व्यंजनात्मक शक्ति का क्रमशः ह्रास तो नहीं हो रहा है। यदि किसी स्थान पर उसे इस बात की आशंका हुई है तो वह पुनः, यथा-अवसर, विषय को अधिक स्पष्ट एवं व्यापक बनाने में तत्पर रहा है। यही कारण है कि कहीं कहीं एक ही बात दुहराकर लिख दी गई है।

यों तो इनकी रचना में साधारणतः उर्दू के अधिक प्रचलित शब्द अवश्य आए हैं; जैसे—खाली, दिल, बंद, कैदी, तूफान इत्यादि, परंतु इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला

जा सकता कि पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाँति इन्हें भी दोरंगी दुनिया पसंद है। इन शब्दों के प्रयोग में भी—यह तो निर्विवाद ही है कि—उन्होंने सदैव तद्भव रूप का व्यवहार किया है। इसमें यह आशय गुप्त रूप में वर्तमान है कि इन शब्दों को अपनी भाषा में हड़प लिया जाय। इस विषय में, उन्होंने अपना विचार स्पष्ट लिखा है—"जब हम विदेशी भावों के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें तो उन्हें ऐसा बना लें कि उनमें से विदेशीपन निकल जाय और वे हमारे अपने होकर हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों। जब तक उनके पूर्व उच्चारण को जीवित रखकर, हम उनके पूर्व रूप, रंग, आकार, प्रकार को स्थायी बनाए रहेंगे, तब तक वे हमारे अपने न होंगे और हमें उनको स्वीकार करने में सदा खटक तथा अड़चन रहेगी।" उन्होंने उर्दू के अधिकाधिक प्रचलित शब्दों का ही व्यवहार किया है और वह भी इतना न्यून कि संस्कृत की तत्समता की धूमधाम में उनका पता भी नहीं लगता। यह धूमधाम क्लिष्टता की बोधक कदापि नहीं हो सकती जैसा कि कुछ उर्दू-मिश्रित भाषा का व्यवहार करने-वालों का विचार है। इनकी संस्कृत तत्समता में अव्या-वहारिक एवं समासांत पदावली का उपयोग नहीं पाया जाता। साथ ही व्यर्थ का शब्दाडंबर भी विशेष नहीं मिलता। इनकी भाषा इस बात का उदाहरण हो सकती है कि हिंदी भाषा के शब्द-विधान में भी कितनी उत्कृष्टता तथा विशदता है। शैली साधारणतः संगठित तथा व्यवस्थित पाई जाती है। इसके अतिरिक्त उसमें एक धारावाहिक प्रवाह भी मिलता है। शैली का यह प्रावाहिक रूप उन स्थानों पर विशेषतः

पाया जाता है जहाँ किसी विचार का प्रतिपादन होता है। ऐसे स्थानों पर भाषा कुछ क्लिष्ट—परंतु स्पष्ट और बोधगम्य—वाक्य साधारण विचार से कुछ बड़े—परंतु गठन में सीधे-सादे, भाव-व्यंजना विशद—परंतु सरल और व्यापक हुई है। इसके अतिरिक्त विषय-प्रतिपादन के बीच बीच में यदि आवश्यकता पड़ी है तो उन्होंने "जैसे" का प्रयोग कर उदाहरण इत्यादि से उसे स्पष्ट बनाने का भी आयोजन किया है। जैसे:—

"हिंदी-साहित्य का इतिहास ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह विदित होता है कि हम उसे भिन्न भिन्न कालों में ठीक ठीक विभक्त नहीं कर सकते हैं। उस साहित्य का इतिहास एक बड़ी नदी के प्रवाह के समान है जिसकी धारा उद्गम-स्थान में तो बहुत छोटी होती है पर आगे बढ़कर और छोटे छोटे टीलों या पहाड़ियों के बीच में पड़ जाने पर वह अनेक धाराओं में बहने लगती है। बीच बीच में दूसरी छोटी छोटी नदियाँ कहीं तो आपस में दोनों का संबंध करा देती हैं और कहीं कोई धारा प्रबल वेग से बहने लगती है और कोई मंद गति से। कहीं खनिज पदार्थों के संसर्ग से किसी धारा का जल गुणकारी हो जाता है और कहीं दूसरी धारा के गँदले पानी या दूषित वस्तुओं के मिश्रण से उसका जल अपेय हो जाता है। सारांश यह कि जैसे एक ही उद्गम से निकलकर एक ही नदी अनेक रूप धारण करती है और कहीं पीन-काय तथा कहीं क्षीणकाय होकर प्रवाहित होती है और जैसे कभी कभी जल की एक धारा अलग होकर सदा अलग ही बनी रहती और अनेक भूभागों से होकर बहती है वैसे ही हिंदी-साहित्य का इतिहास भी आरंभिक अवस्था से लेकर अनेक धाराओं के रूप में प्रवाहित हो रहा है। प्रारंभ के कवि लोग स्वतंत्र राजाओं के आश्रित होकर उनके कीर्तिगान में लगे और देश के इतिहास को कविता के रूप में लिखते

रहे। समय के परिवर्तन से साहित्य की यह स्थूल धारा क्रमशः क्षीण होती गई, क्योंकि उसका जल खिँचकर भगवद्भक्ति रूपी धारा, रामानंद और वल्लभाचार्य के अवरोध के कारण दो धाराओं में विभक्त होकर, राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति के रूप में परिवर्तित हो गई। फिर आगे चलकर केशवदास के प्रतिभा-प्रवाह ने इन दोनों धाराओं के रूप को बदल दिया। जहाँ पहले भाव-व्यंजना या विचारों के प्रत्यक्षीकरण पर विशेष ध्यान रहता था, वहाँ अब साहित्य शास्त्र के अंग-प्रत्यंग पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। राम-भक्ति की धारा तो तुलसीदासजी के समय में खूब ही उमड़ चली। उसने अपने अमृतोपम भक्तिरस के द्वारा देश को आप्लावित कर दिया और उसके सामने मानव जीवन का सजीव आदर्श उपस्थित कर दिया।"

(साहित्यालोचन, पृष्ठ ४२)

शैली के विचार से दासजी में एक और विशेषता है; वह भी उपर्युक्त अवतरण से स्पष्ट हो जाता है। कोई भी विषय कितना ही कठिन क्यों न हो यदि लेखक सरल प्रणाली का अनुसरण करे तो वह अपनी प्रतिभा से अपने विषय को शीघ्र बोधगम्य बना सकता है। यही बात हम इस अवतरण में भी पाते हैं। विषय को अत्यंत सरल रूप में सम्मुख उपस्थित करना दासजी भली भाँति जानते हैं। एक साधारण रूपक बाँधकर उन्होंने अपने विषय को अधिक व्यापक बना दिया है। इससे विषय स्पष्ट ही नहीं वरन् शैली भी रोचक हो गई है। उनका विचार है कि विरामादिक चिह्नों का अधिक प्रयोग व्यर्थ है, और यही कारण है कि उनकी रचनाओं में उनका प्रयोग कम हुआ है। ऊपर दिया हुआ अवतरण उस स्थान का है जहाँ पर एक साधारण विषय का प्रतिपादन हो रहा था।

एक तो विषय अपेक्षाकृत सरल था और दूसरी बात यह थी कि उसका प्रतिपादन किया जा रहा था, अतएव भाषा का प्रवाह स्वभावतः चलता और धारावाहिक था। परंतु इस प्रकार की भाषा और उसका प्रवाह सर्वत्र एक सा नहीं मिलेगा। इस बात का समर्थन स्वतः उन्होंने ही किया है—''जो विषय जटिल अथवा दुर्बोध हों, उनके लिये छोटे छोटे वाक्यों का प्रयोग ही सर्वथा वांछनीय है।" "सरल और सुबोध विषयों के लिये यदि वाक्य अपेक्षाकृत कुछ बड़े भी हों तो उनसे उतनी हानि नहीं होती." इसी सिद्धांत का अनुसरण उनकी उन रचनाओं में हुआ है जहाँ पर उन्हें किसी जटिल विषय का गवेषणात्मक विवेचन एवं तथ्यातथ्य का निरूपण करना पड़ा है। ऐसे स्थानों में उनके वाक्य अपेक्षाकृत अवश्य छोटे हुए हैं, भाषा अधिक विशुद्ध एवं कुछ क्लिष्ट हुई है। जैसे:—

"भाषा-विज्ञान ने जातियों के प्राचीन इतिहास अर्थात् उनकी सभ्यता के विकास का इतिवृत्त उपस्थित करने में बड़ी अमूल्य सहायता दी है। पुरातत्व तो प्राप्त भौतिक पदार्थों अथवा उनके अवशेषांशों के आधार पर ही केवल प्राचीन समय का इतिहास उपस्थित करता है। प्राचीन जातियों के मानसिक विकास का ब्योरा देने में वह असमर्थ है। भाषा-विज्ञान इस अभाव की भी पूर्ति करता है। मानसिक भावों या विचारों संबंधी शब्दों में उनका पूरा पूरा इतिहास भरा पड़ा है; और उनके आधार पर हम यह जान सकते हैं कि प्राचीन समय में किस जाति के विचार कैसे थे; वे ईश्वर आत्मा आदि के संबंध में क्या सोचते या समझते थे; उनकी रीति नीति कैसी थी तथा उनका गार्हस्थ्य, सामाजिक, धार्मिक या राजनीतिक जीवन किस श्रेणी

या किस प्रकार का था। सारांश यह कि भाषा-विज्ञान ने पुरातत्व के साथ मिलकर प्राचीन जातियों के भौतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास का एक प्रकार से पूरा पूरा इतिहास उपस्थित कर दिया है।" (भाषा-विज्ञान)

अथवा—

"यह बात स्पष्ट है कि मानव-समाज की उन्नति उस समाज के अंतर्भूत व्यक्तियों के सहयोग और साहचर्य से होती है; पर इस सहयोग और साहचर्य का साफल्य तभी संभव है जब परस्पर भावों या विचारों के विनिमय का साधन उपस्थित हो। भाषा ही इसके लिये मूल साधन है और इसी की सहायता से मानव-समाज की उन्नति हो सकती है। अतएव भाषा का समाज की उन्नति के साथ बड़ा घनिष्ठ संबंध है; यहाँ तक कि एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही संभव नहीं। पर यहीं उनके संबंध के साफल्य की इतिश्री भी नहीं होती। दोनों साथ ही साथ चलते हैं। समाज की उन्नति के साथ भाषा की उन्नति और भाषा की उन्नति के साथ समाज की उन्नति होती रहती है। इसलिये हम कह सकते हैं कि उनका अन्योन्याश्रय संबंध है।"

('साहित्य और समाज' शीर्षक लेख से)

उपर्युक्त गद्यांश की शैली में भाषा के बलिष्ठ रूप की एक सफल प्रतिभा है। इस प्रतिभा को हम वैयक्तिकता का नाम नहीं दे सकते, यह बात ठीक है; किंतु इसमें गवेषणात्मक विवेचना का बोधगम्य स्वरूप अवश्य उपस्थित किया गया है। "गंभीर बातों पर लिखते समय बड़े अभ्यस्त लेखक को भी शाब्दिक सारल्य से हाथ धोना पड़ता है और उसे सीधे संस्कृत से जटिल शब्द लाकर रखने पड़ते हैं।" उर्दू ऐसे गंभीर विषयों की ओर बहुत नहीं बढ़ सकी है, अतएव उस

भाषा के शब्दों की ओर देखना ही व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त उसकी कोई आवश्यकता भी नहीं। इस समय तक हिंदी गद्य ने इतनी प्रौढ़ और उन्नतिशील उन्नति कर ली है कि उसमें उत्कृष्ट विषयों के खंडन-मंडन एवं प्रतिपादन के लिये पर्याप्त सामर्थ्य आ गया है। इसी उन्नति की परिचायक दासजी की भाषा है। उसमें सानुप्रासिक वर्ण-मैत्री का सुंदर और आकर्षक रूप भी मिलता है; उसमें भविष्य की वह महत्त्वाकांक्षा सन्निविष्ट है जिसके वशीभूत होकर साहित्य-संसार में नित्य वैज्ञानिक एवं आलोचनात्मक ग्रंथों का प्रणयन बढ़ता ही जायगा।

चंद्रधर गुलेरी

बाबू श्यामसुंदरदास की रचना-शैली के ठीक विपरीत गुलेरीजी की रचना-शैली है। दासजी की भाषा-शैली साहित्यिक एवं साधारण व्यवहार से कुछ भिन्न है और गुलेरीजी की नितांत स्पष्ट, सरल एवं व्यावहारिक है। उनकी भावभंगी उत्कृष्ट और इनकी चटपटी है। उनकी शब्दावली में संस्कृत की छाप और वाक्य-विन्यास में विस्तार है; परंतु इनकी शब्दावली चलती, सरल और विशिष्टतापूर्ण है तथा वाक्य-विन्यास आकर्षक, गठित और मुहावरेदार है। इनके इतिवृत्त की कथन-प्रणाली में भी विभिन्नता है। दासजी इस विचार से अधिक आलंकारिक एवं साहित्यिक हैं और गुलेरीजी मुहावरे पर जान देनेवाले और व्यंग्यपूर्ण हैं। इन विभिन्नताओं का प्रधान कारण है दोनों लेखकों का, साहित्यिक रचना का, उद्देश्य। दोनों दो भिन्न विषयों के लेखक हैं। दासजी के विषय अधिकांश में साहित्यिक आलोचना और भाषा-विज्ञान के हैं और गुलेरीजी

पंडित चंद्रधर गुलेरी

प्रधानतः सामयिक विषयों पर लिखते थे। उन सामयिक विषयों में आलोचना, इतिहास और समाज-सुधार के प्रश्न विशेषतः आते हैं। कार्यक्षेत्र एक रहने पर भी दोनों लेखकों के मार्ग सर्वथा भिन्न भिन्न हैं।

गुलेरीजी की रचना-शैली की प्रधानता उसकी व्यावहारिकता में है। उनकी शैली में विचित्र चलतापन है। किसी विषय को सीधी-सादी भाँति सम्मुख उपस्थित करके, विषय का प्रतिपादन करते समय छोटे छोटे और स्पष्ट वाक्यों की आकर्षक मालिका गूँथकर, उसमें मुहावरों के उपयुक्त और सामयिक व्यवहार करके वे जान डाल देना भली भाँति जानते थे। किसी विषय को रोचक बनाने के विचार से वे स्थान स्थान पर उर्दू पदावली का प्रयोग करते थे। इसके अतिरिक्त अँगरेजी शब्दों का व्यवहार भी विशेष ध्यान देने योग्य है। कहीं कहीं तो ये शब्द व्यावहारिक और नित्य बोलचाल में आनेवाले हैं; जैसे—पब्लिक, पालिश और मेंबर इत्यादि, और कहीं कहीं वे क्लिष्ट, अव्यावहारिक एवं जटिल हैं; जैसे—assumed, dramatic, necessity, conference, Provisional Committee, presentiment और telepathy इत्यादि। इस प्रकार के शब्दों के साधारण व्यवहार से स्थान स्थान पर वाक्यों की बोधगम्यता नष्ट हो जाती है और प्रधानतः उस समय जब पाठक अँगरेजी भाषा का ज्ञाता नहीं है। अन्य भाषा के अव्यावहारिक शब्दों के प्रयोग से अपनी भाषा की व्यंजनात्मक असमर्थता प्रकट होती है।

गुलेरीजी संस्कृत भाषा और साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे। यह बात उनके गंभीर लेखों से स्पष्ट हो जाती है। जिस समय वे

अपने विषय का सतर्क प्रतिपादन करते हुए पाए जाते हैं उस समय उनकी भाषा परिमार्जित तथा प्रौढ़ ज्ञात होती है। वहाँ उनका साहित्यिक मसखरापन भाव की विशुद्धता से आक्रांत रहता है। यही कारण है कि उनकी भाषा-शैली में स्वच्छता, वाक्य-विन्यास में संगठन और शब्द-समूह में परिष्कृति दिखाई देती है। उनके गंभीर विषयों पर लिखे गए लेखों की भाषा प्रायः संस्कृत-बहुला है। इस संस्कृत का संस्कार और प्रांतिकता का प्रभाव उनके क्रिया-शब्दों पर अधिक पड़ा। उन्होंने प्रायः 'करैं', 'रहैं', 'चाहैं', 'कहैंगे', 'सुनावैंगे', 'निरहाया', 'कहलावैं', 'कहलवाते हैं', 'जिनने', 'बेर', 'खैंच' और 'दीखते' इत्यादि का प्रयोग किया है। इस प्रकार के प्रयोगों में अशुद्धि भले ही न हो परंतु पंडिताऊपन अवश्य झलकता है। इस संस्कार का प्रभाव वाक्य-विन्यास और कथन-प्रणाली पर भी पड़ा है। जैसे—"ऋषि (सुकन्या से) बोला 'बाले! हम सब एक साथ दिखाई देते हुए निकलेंगे, तू तब मुझे इस चिह्न से पहचान लेना।' 'वे सब ठीक एकाकार दीखते हुए स्वरूप में अति सुंदर होकर निकले।'

यह सब होते हुए भी उनकी गंभीर रचनाओं में बल है, प्रतिभा है और एक प्रकार का विचित्र आकर्षण है। अपने विषय-प्रतिपादन की क्षमता उनमें अपूर्व थी। ऐसे अवसरों पर वे बड़े बलिष्ठ और अर्थ-गंभीर शब्दों का प्रयोग बहुतायत से करते थे। जैसे:—

"प्रथम तो काशी से सामाजिक परिषद् को उड़ाने का जो यत्न किया जा रहा है वह अनर्गल, इति-कर्तव्यता-शून्य, उपेक्ष्य और एकदेशी है। इसका प्रधान उद्देश्य मालवीयजी को अपदस्थ

करना है और गौण उद्देश्य कुछ आत्मंभरि लोगों की तिलक बनने की लालसा है। युक्तप्रांत में बहुत से लोगों को तिलक बनने की लालसा जग पड़ी है परंतु चाहे वे त्रिवेणी में गोता खावें, चाहे त्रिलोकी घूम आवें, चाहे उन पर न्यायालयों में घृणित से घृणित अभियोग लग जावें, वे तिलक की षोडशी कला को भी नहीं पा सकते। वर्ष भर तक यार लोग चुप रहे। काशी में सामाजिक परिषद् की स्वागतकारिणी में सुधाकरजी और राम मिश्रजी दो महामहोपाध्याय भी चुने गए, वर्ष भर कुछ विरोध नहीं किया। ये लोग भी ताने मारते अवसर तकते रहे। परंतु जब पंडित मालवीयजी के धर्ममहोत्सव का विज्ञापन निकला तो मनुष्य-दुर्बलता से सुलभ अभिमान जाग उठा और सामाजिक परिषद् का होना मालवीयजी के सिर रक्खा गया। क्या हिंदुओं में मालवीयजी का मान ऐसे कच्चे तागे पर है जो यों कम हो सकता है! माना कि सामाजिक परिषद् हिंदू सिद्धांतों की विद्या तक और इसी लिये निष्फल भी है, परंतु उसके न कराने का यत्न क्या उस निंदनीय जलाने बहाने के ज्वर के समान नहीं है जो डेढ़ दो वर्ष पहले हिंदी-साहित्य पर चढ़ा था? यदि विरोधियों का उत्तर उनका मुँह बंद करना ही है तो क्यों "बंदे मातरम्" गाने की मनाई के लिये मि० फुलर का शासन बदनाम किया जाता है? यह भी कथन विकृत है कि सामाजिक परिषद् के नेता "अपनी विकृत वासनाओं को पूरा करने के लिये अपने सुधार या दुर्धार चाहते हैं।" उद्देश्य में भेद हो चाहे न हो, काम के ज्ञान और मार्ग में भेद है, इसलिये वासनाएँ विकृत बताना बड़ी भारी भूल है। न्यायमूर्ति रानाडे या चंदावरकर प्रभृति के व्यक्तिगत आचरण इतने उज्ज्वल हैं कि छिद्रान्वेषी निगाह उनकी झलक से झँप जाती है और किसी भी समाज-सुधारक का चरित्र इतना कलुषित न होगा, जितना एक पंजाबी धर्म-

व्यवसायी का, सच्चे झूठे, लोमहर्षण रीति से, प्रकट हुआ था।' परंतु स्वयं कुछ करना नहीं और और लोग अग्रसर हों तो सोश्यल कांफ्रेंस न रोकने का दोष उनके मत्थे! खंडन करो, विरोध करो, परंतु स्थान मात्र पर से कांफ्रेंस को हटाकर क्या तुम तिलक बन सकते हो?"

उनके संस्कृत-ज्ञान ने केवल शब्द के व्यावहारिक स्वरूपों और वाक्यों के सामूहिक विन्यास पर ही रंग नहीं जमाया है वरन् भाव-व्यंजना के उपयोग में भी उसी का बोलबाला है। इतिवृत्त के निवेदन में स्थान स्थान पर प्राचीन वैदिक एवं पौराणिक पदों और प्रमाणों का प्रयोग इन्होंने अधिक किया है। उनके इस प्रसंग-गर्भत्व का आनंद उस पाठक को कदापि प्राप्त नहीं हो सकता जिसको उसके जड़ मूल का पता न हो। बात कहते कहते वे एक ऐसे विषय का वर्णन करेंगे जिसका सीधा संबंध नैयायिकों से होगा। उस रोचकता का महत्त्व वह पाठक कदापि न समझेगा जिसने न्यायशास्त्र का अध्ययन नहीं किया अथवा उस संबंध-विशेष का उसे ज्ञान नहीं है। जैसे—"यह उस देश में जहाँ कि सूर्य का उदय होना इतना मनोहर था कि ऋषियों का यह कहते कहते तालू सूखता था कि सौ बरस इसे हम उगता देखें, सौ बरस सुनें, सौ बरस बढ़ बढ़कर बोलें, सौ बरस अदीन होकर रहें—सौ बरस ही क्यों सौ बरस से भी अधिक। भला जिस देश में बरस में दो ही महीने घूम फिर सकते हों और समुद्र की मछलियाँ मारकर नमक लगाकर सुखाकर रखना पड़े कि दस महीने के शीत और अँधियारे में क्या खायँगे, वहाँ जीवन से इतनी ग्लानि हो तो समझ में आ सकती है—पर, जहाँ राम के राज में 'अकृष्टपच्या

पृथिवी पुटके पुटके मधु' विना खेती किए फसलें पक जायँ और पत्ते पत्ते में शहद मिले, वहाँ इतना वैराग्य क्यों ?" लिखते लिखते यदि प्रसंग आया है तो वे अपना वैदिक ज्ञान प्रकट करने में चूके नहीं। यहाँ तो प्रसंग के कारण एक विशेष अवांतर उपस्थित किया गया है! इस प्रकार के अवांतरों एवं प्रासंगिक कथाओं से उनके लेख भरे पड़े हैं। इनसे यह स्पष्ट विदित होता है कि लेखक अध्ययनशील तथा उदात्त पंडित है! पाठकों को यदि किसी स्थान पर इन अवांतरों के प्रासंगिक रूप का ज्ञान न हो सका तो लेख का वह भाग उनके लिये प्रायः निरर्थक ही समझना चाहिए। परंतु जिसने उसका वास्तविक प्रसंग-गर्भत्व समझा वह उसका पूर्ण आनंद भी उठाता है।

साहित्यिक एवं ऐतिहासिक लेखों के अतिरिक्त गुलेरीजी ने अनेक सामाजिक तथा आलोचनात्मक लेख भी लिखे हैं। इन लेखों की भाषा-शैली सर्वथा भिन्न है। ऐसे लेखों के लिखते समय उनमें एक प्रकार का चलतापन और चुलबुलाहट दिखाई पड़ती है। भाव-व्यंजना अत्यंत रोचक और आकर्षक, वाक्य-विन्यास में सरलता और संगठन तथा शब्द-चयन में विशेष सतर्कता और सामयिकता दिखाई पड़ती है। इन स्थानों पर मुहावरों का इतना सुंदर निर्वाह मिलता है कि कहीं कहीं तो उनकी लड़ी सी गुथी दिखाई पड़ती है। उन्हीं मुहावरों पर सारा खेल आश्रित रहता है। भाषा के मुहावरेदार होने के अतिरिक्त वाक्यों का विस्तार इतना कम और इतना गठित रहता है कि उसमें एक मनोहर आकर्षण मिलता है। जैसे—"बकौल शेक्सपियर के जो मेरा धन छीनता है

वह कूड़ा चुराता है, पर जो मेरा नाम चुराता है वह सितम ढाता है। आर्य-समाज ने वह मर्मस्थल पर मार की है कि कुछ कहा नहीं जाता। हमारी ऐसी चोटी पकड़ी है कि सिर नीचा कर दिया; औरों ने तो गाँठ का कुछ न दिया, इन्होंने अच्छे अच्छे शब्द छीन लिए। इसी से कहते हैं 'मारेसि मोहिं कुठाउँ'। अच्छे अच्छे पद तो यों सफाई से लिए हैं कि इस पुरानी जमी हुई दूकान का दिवाला निकल गया !! लेने के देने पड़ गए !!!"

उनकी इस भाषा-शैली में अकृत्रिम वैयक्तिकता है। प्रधानतः उनके सभी सामाजिक और आलोचनात्मक लेख इसी प्रकार की शैली में लिखे गए हैं। इन लेखों की भाषा स्पष्ट और मिश्रित है। वाक्य विस्तार के विचार से प्रायः छोटे हैं। कथन-प्रणाली अधिकांश भाग में रोचक, विनोदपूर्ण एवं व्यंग्य से भरी-पुरी रहती है। इन लेखों के आरंभिक भाग इस बात का प्रमाण देते हैं कि लेखक ने विषय को भली भाँति समझ लिया है और कथन-आरंभ में विशेष विलंब नहीं लगाना चाहता। उनके आरंभ में विनोदपूर्णता रहती है और समस्त लेख में एक व्यंग्यपूर्ण ध्वनि निकलती है। मार्मिक स्थलों पर भावभंगी भी विशेष आकर्षक हो जाती है। जैसे:—

"हम तो शिवदासजी गुप्त की इस नई खोज की प्रशंसा में मग्न हैं। क्या बात है ! क्या बढ़के बात निकाली है ! इधर हमारे हँसोड़ मित्र कह रहे हैं कि जालहंस-वालहंस कोई नहीं है—रोमन लिपि का चमत्कार है और संस्कृत-साहित्य न जाननेवालों की अँगरेजी या बँगला सूँघकर 'गवेषणापूर्ण' लेख लिखने की लालसा पूर्ण करके पाँचवें सवार बनने की धुन का परिहास मात्र दुष्परिणाम है। जल्हण की 'सूक्तिमुक्ता-

पंडित रामचंद्र शुक्ल

वली' प्रसिद्ध है। कवियों के समय निर्णय करनें में बड़े काम की वस्तु है। अँगरेजी में रोमन लिपि में जल्हण Jalhans (पष्ठ्यंत प्रयोग) लिखा हुआ था और पादरी नोढ़्स साहब की दुलारी रोमन लिपि के तुफ़ैल से और संस्कृत की जानकारी न होने से जालहंस का जाल बिन जाने रचा गया। जैसे कि 'सोनगरा' राजपूतों का नाम कर्नल टाड के राजस्थान में पढ़कर बंगाली अनुवादक ने सो नगरों के स्वामी क्षत्रियों का जाति-नाम न समझकर अँगरेजी अक्षर और बंगालियों के गोल गोल उच्चारण के भरोसे 'शनिग्रह' राजपूत कहकर अटकल लड़ाई कि सूर्य, चंद्रवंश की तरह 'शनिग्रह वंशी' राजपूत भी होंगे और मुरादाबादी अनुवादक ने भी हिंदी में बँगला की वही साढ़े साती शनिश्चर की दशा राजपूतों पर ढा दा। वैसे ही लेखक के मानस में जालहंस की किलोलें आरंभ हो गईं !!"

जब हम आजकल के उत्कृष्ट निबंध-लेखक तथा आलोचनात्मक प्रणाली के उन्नायक पंडित रामचंद्र शुक्ल जी की भाषा-शैली का विवेचन करने बैठते हैं तब जर्मन आलोचक बफ़न के कथन—

रामचंद्र शुक्ल

Style is the man himself—शैली स्वयं लेखक का व्यक्त स्वरूप है— का स्वभावतः स्मरण हो आता है। शुक्लजी की व्यक्तिगत गंभीरता उनकी भाषा में व्याप्त रहती है। उनकी भाषा संयत, परिष्कृत, प्रौढ़ तथा विशुद्ध होती है, उसमें एक प्रकार का सौष्ठव विशेष है, जो संभवतः किसी भी वर्तमान लेखक में नहीं पाया जाता। उसमें गंभीर विवेचना, गवेषणात्मक चिंतन एवं निर्भ्रांत अनुभूति की पुष्ट व्यंजना सर्वदा वर्तमान रहती है। साधारण निबंध में, आलोचनात्मक तथा अन्य लेखों में जहाँ देखा जाय वहीं कुछ चमत्कार विशेष पाया जाता है। कथन का यह चामत्कारिक ढंग शुक्लजी ही

का है। उसमें उनकी वैयक्तिकता की गहरी छाया दिखाई पड़ती है। किसी स्थान से भी दस-पाँच पंक्तियाँ निकालकर अन्यत्र रख दी जायँ तो वे पुकारकर कहेंगी कि ये उस प्रौढ़ लेखनी की रचनाएँ हैं जिसने हिंदी गद्य की व्यापक और प्रौढ़-तम उत्कृष्टता का वर्तमान रूप एक निर्दिष्ट स्थान पर स्थिर कर दिया है।

शुक्लजी की शैली में वैयक्तिकता की छाप सर्वत्र ही प्राप्त होती है; चाहे वह निबंध-रचना हो चाहे आलोचना-त्मक विवेचन। निबंधों में स्वच्छंदता का विशेष अवकाश होने के कारण भाव-व्यंजना भी सरल हुई है। उनमें अपेक्षा-कृत वाक्य कुछ बड़े हुए हैं; भाषा अधिक चलती और व्याव-हारिक हुई है। यों तो इनकी रचनाओं में धारा-प्रवाह कुछ कम रहता है, परन्तु निबंधों में इसका भी पूरा आनंद प्राप्त होता है। इस प्रकार की रचनाओं में विचार-शक्ति का अच्छा संघटन रहता है अतएव वाक्यों के रूप में बाहर जब इसका स्वरूप उपस्थित होता है तब उसमें आंतरिक और बाह्य भाव-व्यंजना में एक वैचित्र्यपूर्ण सामंजस्य दिखाई पड़ता है। एक के उपरांत दूसरे विचार क्रमशः इस प्रकार व्यक्त होते जाते हैं कि धीरे धीरे विचारों की एक लड़ी बन जाती है। इन निबंधों में से यदि कोई एक वाक्य भी बीच में से निकाल लें तो समस्त भावमाला अस्त-व्यस्त हो इधर-उधर बिखर जायगी। इनकी रचना में शब्दाडंबर का नाम अथवा व्यर्थ के घुसेड़े हुए शब्द कदापि नहीं मिलेंगे। बिना आवश्यकता के वाक्य-पूरक "है" भी नहीं लिखा गया है। व्यर्थ के शब्दों को लिखना शुक्लजी की प्रकृति के विरुद्ध है। उनके विचार से

थोड़े से थोड़े शब्दों में गंभीर से गंभीर भावावेश व्यक्त करना उचित है। भावों के साथ साथ वाक्य भी एक से एक नये रहते हैं। इस प्रकार की रचनाओं में हमें वह दुरूहता नहीं मिलती जो शुक्लजी की गवेषणात्मक विवेचनाओं में बहुधा प्राप्त होती है। इनकी निबंध-रचना इस बात का द्योतन करती है कि व्यावहारिक, सरल और बोधगम्य भाषा में किस प्रकार मानुषिक जीवन से संबद्ध विषयों पर विचार प्रकट किए जाते हैं। मुहावरों का प्रयोग शुक्लजी ने अपनी इस प्रकार की रचनाओं में अवश्य किया है अतएव यह कथन कि "उनके लेखों की भाषा में कहावतों और मुहावरों का अभाव सा है" व्यापक नहीं माना जा सकता। हाँ, यदि आलोचनात्मक एवं गवेषणात्मक प्रबंधों में ये बातें नहीं मिलतीं तो यह स्वाभाविक ही है; क्योंकि वहाँ भाषा की उछल-कूद भावों की गंभीरता से आक्रांत रहती है। इसके अतिरिक्त लेखक को इन निबंधों के लिखते समय भी यदि इस बात की आशंका होती है कि बात भी सर्वथा स्पष्ट नहीं हुई तो वाक्य-समूह के अंत में आकर वह "सारांश यह कि" लिखकर थोड़े में गुंफित विचारों को एकत्र कर देता है। जैसे:—

"जिस समाज की हम बुराई करते हैं, जिस समाज में हम अपनी मूर्खता धृष्टता आदि का प्रमाण दे चुके रहते हैं, उसके अंग होने का स्वत्व हम जता नहीं सकते, अतः उसके सामने अपनी सजीवता के लक्षणों को उपस्थित करते या रखते नहीं बनता—यह प्रकट करते नहीं बनता कि हम भी इस संसार में हैं। जिसके साथ हमने कोई बुराई की होती है उसे देखते ही हमारी क्या दशा हो जाती है? हमारी चेष्टाएँ मंद पड़ जाती हैं, हमारे ऊपर घड़ों पानी पड़ जाता है, हम

गड़ जाते हैं या चाहते हैं कि धरती फट जाती और हम उसमें समा जाते। सारांश यह कि यदि हम कुछ देर के लिये मर नहीं जाते तो कम से कम अपने जीने का प्रमाण अवश्य समेट लेते हैं।"

"यदि किसी भावी आपत्ति की सूचना पाकर कोई एकदम ठक हो जाय, कुछ भी हाथ-पैर न हिलाए तो भी उसके दुःख को साधारण दुःख से अलग करके भय की संज्ञा दी जायगी। पर यदि किसी मित्र के आने की सूचना पाकर हम चुपचाप आनंदित होकर बैठे रहें वा थोड़ा हँस भी दें तो यह हमारा उत्साह नहीं कहा जायगा। हमारा उत्साह तभी कहा जायगा जब हम अपने मित्र का आगमन सुनते ही उठकर खड़े हो जायँगे, उससे मिलने के लिये चल पड़ेंगे और उसके ठहरने इत्यादि का प्रबंध करने के लिये प्रसन्नमुख इधर से उधर दौड़ते दिखाई देंगे।"

शुक्लजी ने अधिक मननशील साहित्य की उद्भावना की है। परंतु अपने गंभीर विषयों पर विवेचनात्मक रूप में लिखते लिखते यदि कहीं अवसर मिला है तो वे व्यंग्यात्मक छींटे अवश्य मारते गए हैं। दुरूह विवेचना के बीच बीच में इस प्रकार की रचना एक विशेष प्रकार का चमत्कार उत्पन्न करती है। जब कभी गंभीर विचारों से जी ऊब उठता है तब मनबहलाव की इच्छा का उदय स्वाभाविक ही है। इस प्रकार व्यंग्यात्मक छींटों के लिये उन्होंने उर्दू के शब्दों और मुहावरों का प्रायः आश्रय लिया है। इन उर्दू शब्दों का प्रयोग सदैव तत्सम रूप में ही हुआ है। बाबू श्यामसुंदरदासजी की भाँति शब्दों को अपनाने का विचार इनका नहीं ज्ञात होता। गवेषणात्मक प्रबंधों के बाहर तो इन्होंने उर्दू शब्दों का प्रयोग यथास्थान कुछ न कुछ अवश्य किया है अतएव यह कहना कि इनकी

रचना में न्यूनातिन्यून प्रयोग हुआ है, केवल भ्रामक ज्ञात होता है; क्योंकि प्रयोग अवश्य हुआ है और अच्छी तरह हुआ है। इन्होंने 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' में "तारीफ़", "चीज़", "ज़रूरी", "मज़ाक़" इत्यादि चलते शब्दों का व्यवहार प्रचुर मात्रा में किया है। ऐसे स्थलों की शैली अधिक व्यावहारिक और चलती हुई है; क्योंकि उन्हें अपनी शैली को अधिक बोधगम्य बनाने की लालसा थी। इसके अतिरिक्त वे उर्दू पदों का भी प्रयोग करते हैं; परंतु यह उन्हीं स्थानों पर जहाँ कुछ विनोदपूर्ण व्यंग्य अभिप्रेत होता है। इस प्रकार की रचना-प्रणाली में बड़ा सौष्ठव दिखाई पड़ता है।

"हवा से लड़नेवाली स्त्रियाँ देखी नहीं तो कम से कम सुनी तो बहुतों ने होंगी चाहे उनकी ज़िंदः-दिली की क़द्र न की हो।"

"एक बात ज़रा और खटकती है। वह है उनका भाषा के साथ मज़ाक़। कुछ दिन पीछे इन्हें उर्दू लिखने का शौक़ हुआ—उर्दू भी ऐसी-वैसी नहीं उर्दू-ए-मुअल्ला। इसी शौक़ के कुछ आगे-पीछे इन्होंने राजा शिवप्रसाद का जीवन-चरित्र लिखा जो 'सरस्वती' के आरंभ के तीन अंकों में निकला। उर्दू ज़बान और शेर सख़ुन की बेढंगी नक़ल से, जो असल से कभी कभी साफ़ अलग हो जाती है, उनके बहुत से उपन्यासों का साहित्यिक गौरव घट गया है। ग़लत या ग़लत मानी में लाए हुए शब्द भाषा को शिष्टता के दर्जे से गिरा देते हैं। ख़ैरियत यह हुई है कि अपने सब उपन्यासों को यह मँगनी का लिबास नहीं पहनाया है।"

इसके अतिरिक्त स्थान स्थान पर व्यंग्यात्मक दो-एक वाक्य लिखकर अपनी धारणा व्यक्त करना ये भली भाँति जानते हैं।

इस प्रकार के वाक्य जैसे चिकोटी काटते हैं और उनमें एक चमत्कार अप्रत्यक्ष रूप में वर्तमान रहता है; जैसे:—

"इसमें नायक को कहीं बाहर, वन, पर्वत आदि के बीच नहीं जाना पड़ा है। वह घर के भीतर ही लुकता, छिपता, चौकड़ी भरता दिखाया गया है।" "यदि कटाक्ष से उँगली कटने का डर है तो तरकारी चीरने या फल काटने के लिये छुरी, हँसिया आदि की कोई ज़रूरत न होनी चाहिए।" अथवा—"बिहारी की नायिका जब साँस लेती है तब उसके साथ चार क़दम आगे बढ़ जाती है। घड़ी के पेंडुलम् की सी दशा उसकी रहती है।" "इसी प्रकार उर्दू के एक शायर साहब ने आशिक़ को जूँ या खटमल का बच्चा बना डाला।"

शुक्लजी के पूर्व वास्तव में आलोचनात्मक प्रबंध प्राय: कम लिखे गए थे। यदि लिखे भी गए थे तो भाव और भाषा दोनों के विचार से वे उत्कृष्ट नहीं कहे जा सकते। वास्तव में साहित्यालोचन की विश्लेषात्मक, परिपुष्ट एवं व्यापक परिपाटी इन्होंने ही आरंभ की है। आरंभ करने में उतना बड़ा काम नहीं हुआ जितना कि उसके अनुकूल भाषा की उद्भावना में। इन्होंने आलोचनात्मक भाषा का केवल निर्माण ही किया हो—यह बात भी नहीं है। इन्होंने उसकी सम्यक् व्यवस्था भी कर दी है। इस प्रकार की भाषा में इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि अब इस विषय के भी उत्तमोत्तम ग्रंथों का निर्माण हो सकता है। हिंदी-साहित्य में भी इस प्रकार की संयत और विशद विवेचना संभव है, इसका प्रमाण देते हुए जो इन्होंने एक प्रकार की शैली-विशेष का रूप स्थिर किया है उसके लिए हिंदी भाषा सदैव इनकी कृतज्ञ रहेगी। इस प्रकार की रचनाओं की भाषा बड़ी ही सतर्क एवं प्रौढ़

हुई है। इसमें किसी विषय का कितना सुंदर तथा प्रभावात्मक विवेचन और प्रतिपादन हो सकता है, यह बात स्पष्ट प्रकट हो जाती है।

"लोक के मंगल की आशा से उनका हृदय परिपूर्ण और प्रफुल्ल था। इस आशा का आधार थी वह मंगलमयी ज्योति जो धर्म के रूप में जगत् की प्रातिभासिक सत्ता के भीतर आनंद का आभास देती है, और उसकी रक्षा द्वारा अपने सत् का—अपने नित्यत्व का—बोध कराती है। लोक की रक्षा "सत्" का आभास है, लोक का मंगल "परमानंद" का आभास है। इस व्यावहारिक सत् और आनंद का प्रतीक है 'राम-राज्य' जिसमें उस मर्यादा की पूर्ण प्रतिष्ठा है जिसके उल्लंघन से इस सत् और आनंद का आभास भी व्यवधान में पड़ जाता है। पर यह व्यवधान सब दिन नहीं रह सकता। अंत में सत् अपना प्रकाश करता है, इस बात का पूर्ण विश्वास तुलसीदासजी ने प्रकट किया है।"

"अतः केशव बिहारी आदि के साथ ऐसे कवि का मिलान के लिये रखना उसका अपमान करना है। केशव में तो हृदय का पता ही नहीं है। वह प्रबंध-पटुता भी उनमें नाम को नहीं जिससे कथानक का संबंध-निर्वाह होता है। उनकी रामचंद्रिका फुटकर पद्यों का संग्रह मात्र जान पड़ती है। वीरसिंहदेवचरित से उन्होंने अपनी हृदय-हीनता की ही नहीं प्रबंध-रचना की भी पूरी असफलता दिखा दी है। बिहारी रीति-ग्रंथों के सहारे जबरदस्ती जगह निकाल निकालकर दोहों के भीतर शृंगार रस के विभाव अनुभाव और संचारी ही भरते रहे। केवल एक ही महात्मा और है जिसका नाम गोस्वामीजी के साथ लिया जा सकता है और लिया जाता है। वे हैं प्रेम-स्रोत-स्वरूप भक्तवर सूरदासजी। जब तक हिंदी-साहित्य और हिंदी-भाषी हैं तब तक सूर और तुलसी का जोड़ा अमर है। पर,

जैसा दिखाया जा चुका है, भाव और भाषा दोनों के विचार से गोस्वामी-जी का अधिकार अधिक विस्तृत है। न जाने किसने यमक के लोभ से यह दोहा कह डाला—

'सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केशवदास'।

यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखनेवाला हिंदी का सबसे बड़ा कवि कौन है तो उसका एक मात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत-हृदय, भारती-कंठ, भक्त-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास।"

ज्यों ज्यों साहित्य में नवीन विषयों का अध्ययन अध्यापन बढ़ता जायगा, त्यों त्यों नवीन प्रकार की रचनाओं की आवश्यकता बढ़ती जायगी। इन रचनाओं में नवीन भावनाओं और विचारों का खंडन-मंडन रहेगा। अतएव शैली-विशेष की आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त नवीन शब्दों का भी निर्माण होगा। हिंदी-साहित्य में अब नित्य नवीन विषयों की चर्चा बढ़ रही है। इस चर्चा के साथ ही साथ भाषा, शैली और शब्द-निर्माण पर भी ध्यान दिया जा रहा है। कुछ लोग तो शब्द-निर्माण किसी निश्चित सिद्धांत के बिना ही करते हैं। वस्तुतः वे इसके अधिकारी नहीं होते। इस बात की चेष्टा करना या तो उनकी शक्ति से परे होता है अथवा केवल प्रमादवश इस विषय का विचार ही नहीं करते कि वास्तव में नवीन शब्द-रचना की कोई आवश्यकता है अथवा नहीं। (जब तक अपनी भाषा में उसी का पर्याय अथवा उससे मिलता-जुलता कोई शब्द उपस्थित हो तब तक हमें नवीन शब्द गढ़ने की चेष्टा न करनी चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से ये गढ़े हुए शब्द न तो निश्चित अर्थ ही बोधित

कर सकेंगे और न व्यापक ही हो सकेंगे) एक नवीन जंतु की भाँति वे सम्मुख खड़े हो जायँगे। अतएव अधिक समीचीन यही है कि अपनी ही भाषा के प्राचीन भूले हुए शब्दों का पुनरुद्धार कर उन्हें पुनः व्यवहार-क्षेत्र में उतारें। इस प्रकार हम अव्यावहारिकता से बचे रहेंगे और साथ ही अपने प्राचीन भाषा-कोष की उपेक्षा भी न करेंगे।

जिस प्रकार शुक्लजी ने अन्य विभागों में अपनी उद्भावना-शक्ति का परिचय दिया है उसी प्रकार शब्द-निर्माण के संसार में भी वे प्रमुख बने हैं। इसका उन्हें कोई खास शौक नहीं; न तो कोई ऐसा व्यापक मर्ज ही है। परंतु उन्हें अपने विषय-साम्राज्य के विस्तार-भार से आक्रांत होकर विवश होना पड़ता है। ऐसी अवस्था में नवीन कल्पनाओं, नवीन शैली एवं शब्द-कोष की ढूँढ़-ढाँढ़ अनिवार्य हो जाती है। शुक्लजी ने अनेक शब्दों का निर्माण भी किया है; और साथ ही अनेक शब्दों का पुनरुद्धार भी। "विश्व-प्रपंच" की भूमिका में अनेक विज्ञानों और दर्शनों की चर्चा है जिनमें बहुत से नवीन निर्मित शब्दों के अतिरिक्त अनेक पारिभाषिक शब्द भारतीय शास्त्रों से लेकर प्रयुक्त हुए हैं। उन्हें शब्द-निर्माण के अतिरिक्त नवीन विषयों के निदर्शन एवं प्रतिपादन के लिये एक शैली-विशेष का स्वतंत्र रूप खड़ा करना पड़ा है। इस प्रकार की शैली को हम शुद्ध गवेषणात्मक कह सकते हैं। इसमें भावों की दुरूहता के साथ ही साथ भाषा भी अपेक्षाकृत क्लिष्ट तथा गंभीर हो गई है।

"ब्रह्म की व्यक्त सत्ता सतत क्रियमाण है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्थिर (Static) सौंदर्य और स्थिर मंगल कहीं नहीं; गत्यात्मक

(Dynamic) सौंदर्य और गत्यात्मक मंगल ही है; पर सौंदर्य की गति भी नित्य और अनंत है और मंगल की भी। गति की यही नित्यता जगत् की नित्यता है। सौंदर्य और मंगल वास्तव में पर्याय हैं। कलापक्ष से देखने में जो सौंदर्य है, वही धर्मपक्ष से देखने में मंगल है। जिस सामान्य काव्य-भूमि पर प्राप्त होकर हमारे भाव एक साथ ही सुंदर और मंगलमय हो जाते हैं उसकी व्याख्या पहले हो चुकी है। कवि मंगल का नाम न लेकर सौंदर्य ही का नाम लेता है और धार्मिक सौंदर्य की चर्चा बचाकर मंगल ही का ज़िक्र किया करता है। टाल्सटाय इस प्रवृत्ति-भेद को न पहचानकर काव्य-क्षेत्र में लोक-मंगल का एकांत उद्देश्य रखकर चले इससे उनकी समीक्षाएँ गिरजाघर के उपदेश के रूप में हो गईं। मनुष्य मनुष्य में प्रेम और भ्रातृभाव की प्रतिष्ठा ही काव्य का सीधा लक्ष्य ठहराने से उनकी दृष्टि बहुत संकुचित हो गई, जैसा कि उनकी सबसे उत्तम ठहराई हुई पुस्तकों की विलक्षण सूची से विदित होता है। यदि टाल्सटाय की धर्म-भावना में व्यक्तिगत धर्म के अतिरिक्त लोकधर्म का भी समावेश होता तो शायद उनके कथन में इतना असामंजस्य न घटित होता।"

इस प्रकार हमने देख लिया कि शुक्लजी की भाषा सदैव भाव-निदर्शन के अनुरूप हुई है। जिस स्थान पर जैसा विषय था वैसी ही भाषा प्रयुक्त हुई है। ज्यों ज्यों विषय की गहनता और उत्कृष्टता उन्नति पाती गई है त्यों त्यों भाषा के रूप-रंग में भी परिवर्तन होता गया है। भाषा और शैली को अपने भावानुकूल बना लेना बड़े दक्ष लेखक की प्रतिभा का काम है। इसके अतिरिक्त दूसरी बात जो हम व्यापक रूप में पाते हैं वह यह है कि उनकी शैली से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि लेखक के एक एक वाक्य में भावनाओं का संसार अंत-

निहित है। वाक्य का एक भी शब्द व्यर्थ नहीं रखा गया है। इनकी भाषा बड़ी संगठित और प्रांजल हुई है; क्योंकि विचार उसमें कस कसकर परंतु स्पष्टता से भरे गए हैं। कहीं से लचरपन नहीं प्रकट होता। इन्हीं कारणों से जिस स्थान पर गवेषणापूर्ण विषय का प्रतिपादन हुआ है, संभवतः कुछ अंशों में दुरूहता दिखाई पड़ती है। वाक्यों की साधारण बनावट में उन्होंने कहीं से विषमता नहीं उत्पन्न होने दी है—चाहे भाषा का धारावाहिक रूप कुछ बिगड़ ही क्यों न गया हो। यह सब होते हुए भी हम यह देख चुके हैं कि जितना प्रौढ़ उत्कर्ष—भाषा और भाव दोनों का—हमें इनमें मिला है किसी भी दूसरे लेखक में नहीं प्राप्त होता।

पंडित पद्मसिंह शर्मा की आलोचनात्मक पद्धति—एक की विशेषता की परख दूसरे की विशेषताओं को दिखाकर करना—

पद्मसिंह शर्मा

यह प्रकट करती है कि लेखक का अधिकार दोनों आलोच्य कवियों पर समान है। इस प्रकार तुलनात्मक आलोचना का जो आकर्षक रूप शर्माजी ने हिंदी-साहित्य में उपस्थित किया है वह वस्तुतः नवीन और स्तुत्य है। स्तुत्य वह इस विचार से है कि उसने एक नवीन अनुभूति को लिखित रूप दिया है। इस प्रकार के साहित्य की आवश्यकता थी। इसके उपस्थित होते ही अन्य सुंदर तुलनात्मक आलोचनाएँ लिखी गईं। किसी विषय का आरंभ उद्भावना-शक्ति का परिचायक होता है। इस विचार से शर्माजी का स्थान बड़े ही महत्त्व का समझना चाहिए।

जब हम उनकी आलोचना-पद्धति पर विचार करते हैं तब हमें उसमें वैयक्तिकता की गहरी छाप दिखाई पड़ती है।

उनकी आलोचनात्मक रचना में से यदि चार पंक्तियाँ भी निकालकर बाहर रख दी जायँ तो उनकी चटक-मटक डंके की चोट कहेगी कि वे शर्माजी की विभूति हैं। उनकी बनावट, उछल-कूद, लपक-झपक में भी कारीगरी छिपी रहती है। इस प्रकार की शैली भी अपने ढंग की निराली है। उर्दू-हिंदी का इतना रुचिकर और अभिन्न सम्मिश्रण पहले नहीं दिखाई पड़ा था। उर्दू समाज की 'वल्लाह', 'वल्लाह', 'क्या ख़ूब', 'क्या ख़ूब' का आनंद अभी तक नहीं आया था। कथन का यह आकर्षक और उत्साहमय रूप कभी कभी बड़ा ही चमत्कारपूर्ण होता है। परंतु यह उर्दूवाला ढंग सब जगह अच्छा नहीं होता। इसका प्रभाव क्षणिक होता है। 'वाह', 'वाह', 'बाज़ी मार ले गए', 'ग़ज़ब कर दिया है' इत्यादि की धूमधाम में आलोचना का सौम्य विवेचन बिगड़ जाता है। चमत्कारपूर्ण होते हुए भी वह प्रभावात्मक नहीं होता। इस विचार से शर्माजी की शैली तथ्यातथ्य-निरूपण के योग्य कदापि नहीं मानी जा सकती। उसमें से एक अभद्र दुर्गन्ध निकलती है जो वास्तव में गंभीर आलोचनात्मक प्रबंधों के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है। गवेषणात्मक अध्ययन के उपरांत इस प्रकार की उच्छृंखल भाषा में भावों की व्यंजना नहीं हो सकती। यदि हो भी तो वह अत्यंत अस्वाभाविक ही ठहरेगी। आलोचना का जो दिव्य रूप पंडित रामचंद्रजी की भाषा में देखा जाता है उसका एक अंश भी इसमें नहीं मिलता। आलोचना वस्तुतः मनन का विषय है। जो बात गंभीर मनन के उपरांत मुख से निकलेगी उसकी विचार-धारा संयत एवं विशुद्ध होगी तथा उसकी भाषा में स्थिरता और

गंभीरता होगी। उस भाषा में लखनवी उछल-कूद और हाय-तोबा का ज़िक्र तथा "तू तू", "मैं मैं" अवश्य अच्छी नहीं हो सकती।

"बात बहुत साफ़ और सीधी है पर तो भी चमत्कार से ख़ाली नहीं, इसका बाँकपन चित्त में चुभता है। बहुत ही मधुर भाव है।

पर बिहारीलाल भी तो एकही 'काइयाँ' ठहरे। वह कब चूकनेवाले हैं, पहलू बदलकर मज़मून को साफ़ ले ही तो उड़े।

'अजौं न आए सहज रँग, बिरह दूबरे गात'

वाह उस्ताद क्या कहने हैं। क्या सफ़ाई खेली है। काया ही पलट दी। कोई पहचान सकता है।"

"बात वही है, पर देखिए तो आलम ही निराला है। क्या तान-कर 'शब्दबेधी' नावक का तीर मारा है। लुटा ही दिया। एक 'अनियारे'-पन ने धवल कृष्ण पक्ष वाले सबको एक अनी की नोंक में बाँधकर एक ओर रख दिया। और वाह रे "चितवन"! तुम्हारी चित-वन की ताब भला कौन ला सकता है। फिर 'सुंदरी' और 'तरुणि' में भी कहते हैं कुछ भेद है। एक (सुंदरी) वशीकरन का ख़ज़ाना है तो दूसरी (तरुणि) खान है। और 'सुजान' तो फिर कविता की जान ही ठहरा। इस एक पद पर तो एड़ी से चोटी तक सारी गाथा ही क़ुर्बान है।

'वह चितवन औरै कछू, जिहि बस होत सुजान।'

लोहे की यह जड़ लेखनी इसकी भला क्या दाद देगी? भावुक सहृदयों के वे हृदय ही कुछ इसकी दाद देंगे जो इसकी चोट से पड़े तड़पते होंगे।"

"इस प्रकार बिहारीलालजी इस मैदान में गाथाकार और केशव-दास दोनों से बहुत आगे बढ़ गए हैं। क्या अच्छा संस्कार किया है, मज़मून छीन लिया है।"

"कितनी मनोहर रचना है, कितना मधुर परिपाक है। इन शब्दों में जितना जादू भरा है, उतना और कहाँ है? और जो 'हरि जीवन-मूरि' ने तो बस जान ही डाल दी है, इस एक पद पर ही प्राकृत गाथा और पद्यावलि का पद्य, दोनों एक साथ कुर्बान कर देने लायक़ हैं।"

"बिहारी की सखी का परिहास बड़ा ही लाजवाब है, रसिक-मोहन सुनकर फड़क ही गए होंगे। इससे अच्छा, सच्चा, साफ़, सीधा और दिल में गुदगुदी पैदा करनेवाला मीठा मज़ाक़ साहित्य-संसार में शायद ही हो।"

इस प्रकार की आलोचना इस बात को स्पष्ट कह देती है कि आलोचक के हृदय में भावनाओं की स्वर्गीय अनुभूति कम है। वह केवल शब्द-विन्यास से अथवा हँसा खेलाकर पाठक-जगत् की तृप्ति करना चाहता है। सहृदयता की मार्मिक व्यंजना को यदि हम एक ओर रखकर साधारण दृष्टि से विचार करते हैं तो शर्माजी की भाषा में हमें एक विचित्र विनोदात्मक रूप मिलता है। हिंदी-उर्दू का यह सम्मिश्रित रूप हमें उनकी आलोचनात्मक विचार-धारा ही में नहीं वरन् अन्य प्रकार की रचनाओं में भी मिलता है। उसमें एक प्रकार की आनन्दमयी प्रतिभा रहती है। किस विषय को किस प्रकार कहकर जी बहलाना होता है यह इनसे सीखना चाहिए। इसमें किस प्रकार की भाषा का उपयोग हो इसका विचार इन्हीं से सुनिए:—

"जिस भावहीन निर्जीव भाषा में नीरस कर्णकटु काव्यों की आज दिन सृष्टि हो रही है इससे सुरुचि का संचार हो चुका। यह

सहृदय समाज के हृदयों में घर कर चुकी। यह सूखी टहनी बहुत दिनों तक साहित्य-संसार में खड़ी न रह सकेगी। कोरे कामचलाऊ-पन के साथ भाषा में सरसता और टिकाऊपन भी अभीष्ट है। विषय की दृष्टि से न सही भाषा के महत्त्वों की दृष्टि से भी देखिए तो शृंगार रस के प्राचीन काव्यों की उपयोगिता कुछ कम नहीं है। यदि अपनी भाषा को अलंकृत करना है तो इस पुरानी काव्यवाटिका से—जिसे हज़ारों चतुर मालियों ने सैकड़ों वर्ष तक दिल के खून से सींचा है—सदाबहार फूल चुनने ही पड़ेंगे। काँटों के भय से रसिक भौंरा पुष्पों का प्रेम नहीं छोड़ बैठता, मकरंद के लिये मधुमक्षिकाओं को इस चमन में आना ही होगा; यदि वह इधर से मुँह मोड़कर 'सुरुचि' के ख़याल में स्वच्छ आकाश-पुष्पों की तलाश में भटकेंगी तो मधु की एक बूँद से भी भेंट न हो सकेगी। हमारे सुशिक्षित समाज की 'सुरुचि' जब भाषा-विज्ञान के लिये उसी प्रकार का विदेशी-साहित्य पढ़ने की आज्ञा खुशी से दे देती है तो मालूम नहीं अपने साहित्य से उसे ऐसा द्वेष क्यों है?"

जिन स्थानों पर भावों का प्राबल्य होता है उन स्थानों पर स्वभावतः उनकी भाषा अधिक संयत एवं वाक्य-विन्यास अधिक प्रभावशाली होते हैं। उनके भाव-प्रकाशन में भी एक प्रकार का ओज रहता है। उससे यह समझ पड़ता है कि उनका प्रयत्न सदैव इस बात पर रहता है कि एक एक वाक्य तीर का काम करे। यही कारण है कि दुरूहता नहीं आने पाती। शर्माजी व्यंग्य का बड़ा ही सुंदर और आकर्षक उपयोग करते हैं। इन व्यंग्यों के लिये उन्हें शब्द भी अच्छे और मर्मस्पर्शी मिल जाते हैं। इनके व्यंग्यात्मक निबंधों को पढ़ने से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि लेखक मन में कुढ़ा है। इससे रचना में जान आ जाती है।

"हमारे हिंदी के नवीन कवियों की मति गति बिलकुल निराली है। वह कविता की गाड़ी के धुरे और पहिए भी बदल रहे हैं। अपने अद्भुत छकड़े के पीछे की ओर मरियल टट्टू जोतकर गंतव्य पथ पर पहुँचना चाहते हैं। प्राचीनों का कृतज्ञ होना तो दूर रहा, उनके कोसने में भी अपना गौरव समझा जाता है; प्राचीन शैली का अनुसरण तो एक ओर रहा, जान बूझकर अनुचित रीति से उसका व्यर्थ विरोध किया जाता है। भाषा, भाव और रीति में एकदम अराजकता की घोषणा की जा रही है। यह उन्नति का नहीं, मनोमुखरता का लक्षण है। इससे कविता का सुधार नहीं, संहार हो रहा है। सुधार उसी ढंग से होना चाहिए, जिसका निर्देश महाकवि हाली ने किया है और जिसके अनुसार उर्दू के नवीन कवियों ने अपनी कविता को सामयिकता के मनोहर साँचे में ढालकर सफलता प्राप्त की है।"

यों तो नाटकों के प्रणयन का प्रारंभ बाबू हरिश्चंद्र के काल से ही हो गया था, परंतु उस काल के नाटकों में न तो वैसे ऊँचे विचारों का प्रसार ही था और न मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण ही।

जयशंकर प्रसाद

इसके अतिरिक्त वस्तु-संकलन भी साधारण होता था। उसमें न तो विचित्रता ही रहती थी न नवीनता ही। इधर जब से बाबू जयशंकर प्रसाद ने नाटक-रचना प्रारंभ की तब से नाट्य-जगत् में एक नवीन युग आरंभ हो गया है। इनके नाटक भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता का चित्र सम्मुख उपस्थित करते हैं। उनमें चरित्र-चित्रण का उत्कृष्ट विधान मिलता है, मानवीय हृदय की अनेक भावनाओं का सुंदर विवरण और सामयिक प्रगति का अच्छा चित्र मिलता है। इन नाटकों की भाषा भी वस्तु के अनुकूल ही है। इसमें न तो उर्दू

बाबू जयशंकर प्रसाद

की शब्दावली ही मिलती है, न शैली ही। साथ ही हम यह भी नहीं कह सकते कि संस्कृत की दुरूह समासांत पदावली का ही उपयोग किया गया है। साधारणतः भाषा भाव के अनुरूप और विशुद्ध हुई है। विषय और काल के अनुसार स्थान स्थान पर विशिष्ट वर्ग के वैशेषिक शब्दों के प्रयोग प्राप्त होते हैं। ऐसे प्रयोग स्वाभाविकता के विचार से सुंदर ज्ञात होते हैं।

कथोपकथन की शैली अधिकतर मनोवैज्ञानिक हुई है। जिस प्रकार क्रमशः भावावेश बढ़ता जाता है उसी प्रकार भाषा भी धारावाहिक होती गई है; और जिस भाँति के विचार हैं उसी प्रकार की कर्कश एवं मधुर भाषा का प्रयोग देखा जाता है। जैसे—"मनसा, मैं जाती हूँ। वासुकि से कह देना कि यादवी सरमा अपने पुत्र को साथ ले गई। मैं अपने सहजातियों के चरण सिर पर धारण करूँगी, किंतु इन हृदय-हीन उद्दण्ड बर्बरों का सिंहासन भी पैरों से ठुकरा दूँगी।" अथवा "माँ, मुझे अत्याचार का प्रतिशोध लेने दो। मैं पिता के पास जाऊँगा। मुझे आज्ञा दो। मैं मनसा के हाथों का विषाक्त अस्त्र बनूँ; उसकी भीषण कामना का पुरोहित बनूँ। क्रूरता का तांडव किए बिना मैं न जी सकूँगा। मैं आत्मघात कर लूँगा।" इत्यादि। ऐसे भावात्मक कथन में स्वभावतः वाक्य छोटे छोटे हुए हैं। इनसे भावों की परिपक्वता एवं दृढ़ता उद्बोधित होती है। 'प्रसाद' जी की रचनाओं में प्रायः मुहावरों की न्यूनता पाई जाती है, परंतु भाषा और भाव-व्यंजना में लचरपन नहीं आने पाया है। वस्तुतः उन लेखकों को मुहावरों और कहावतों की आवश्यकता पड़ती भी नहीं,

जिनका ध्यान अधिकतर विषय के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की ओर रहता है।

भाषा-सौष्ठव का जितना परिष्कृत रूप हमें 'प्रसाद' जी की रचना में प्राप्त होता है वह स्तुत्य है। इस सौष्ठव में मनोहरता रहती है और ओज एवं माधुर्य का चामत्कारिक उपयोग दिखाई पड़ता है। यों तो धाराप्रवाह सभी स्थानों पर मिलता है; परंतु विशेषत: उन स्थानों पर जहाँ भावावेश रहता है। हृदय में जिस समय भावनाओं का वेग बढ़ जाता है उस समय शीघ्रता से उनका शाब्दिक स्वरूप ग्रहण करना कठिन हो जाता है। इस अवसर पर यदि लेखक सिद्धहस्त न हो तो उनके प्रकाशन में दुरूहता उत्पन्न हो जाती है। इस दुरूहता का किञ्चित् मात्र प्रभाव भी 'प्रसाद' जी की व्यंजना में नहीं प्राप्त होता। वरन् ऐसे स्थानों पर वे छोटे छोटे वाक्यों द्वारा और शिष्ट एवं सुंदर पदावली का आश्रय लेकर बड़ा रोचक विवरण देते हैं। एक एक वाक्य का जोड़-तोड़ इतना अच्छा चलता है कि भाषा में जान पड़ जाती है। एक वाक्य दूसरे वाक्य को सहायता देने में सदैव तत्पर पाया जाता है। इससे धारा-प्रवाह का मनोहर निर्वहन होता है। जैसे :—

"(आप ही आप) बुलाओ, बुलाओ, उस वसंत को, उस जंगली वसंत को, जो महलों में, मन को उदास कर देता है, जो मन में फूलों के महल बना देता है, जो सूखे हृदय की धूलि में मकरंद सींचता है। उसे अपने हृदय में बुलाओ, जो पतझड़ कर नई कोपल लाता है, जो हमारे कई जन्मों की मादकता में उत्तेजित होकर इस भ्रांत जगत् में वास्तविक बात का स्मरण करा देता है, जो कोकिल की

तरह सस्नेह रुक रुक आवाहन करता है, जिसमें विश्व भर के सम्मिलन का उल्लास स्वतः उत्पन्न होता है, एक आकर्षण सबको कलेजे से लगाना चाहता है, उस वसंत को, उस गई हुई निधि को लौटा लो। काँटों में फूल खिलें, विकास हो, प्रकाश हो, सौरभ खेल खेले। विश्वमात्र एक कुसुम-स्तवक के सदृश किसी निष्काम के करों में अर्पित हो। आनंद का रसीला राग विस्मृति को भुला दे; सब में समता की ध्वनि गूँज उठे। विश्व भर का क्रंदन कोकिल की काकली में परिणत हो जाय। आम के बौरों में से मकरंद-मदिरा पान करके आया हुआ पवन सबके तप्त अंगों को शीतल करे।"

'प्रसाद' जी ने भाव-पद्धति के निदर्शन का एक चामत्कारिक रूप खड़ा किया है। इस विचार से उनका स्थान भी महत्त्व का है। उन्होंने छोटी छोटी कहानियाँ लिखी हैं। इनकी कहानियों की भावभंगी ही निराली होती है। उनमें चमत्कार विशेष रहता है। उनके शीर्षक भी कुछ विलक्षण एवं नवीन होते हैं। यह विलक्षणता प्रायः इनकी सभी रचनाओं में मिलती है। कहानियों के भीतर इनका विषय-निर्वाचन, शब्द-चयन एवं गठन, तथा वाक्य-विन्यास इत्यादि सभी उपादान आ जाते हैं। इन कहानियों के शीर्षक 'आकाशदीप', 'स्वर्ग के खँडहर में', 'सुनहला साँप', 'रूप की छाया', 'प्रणयचिह्न', 'प्रतिध्वनि', 'हिमालय का पथिक', 'बनजारा' इत्यादि हैं, जिनमें विलक्षणता तथा चमत्कार का आभास मिलता है। शब्द-चयन के लाक्षणिक प्रयोग अधिकतर मिलते हैं और उनसे व्यंग्यात्मक ध्वनि निकलती है। उनके सहारे पाठक मानो इस स्थूल जगत् से कल्पना के स्वर्ग में जा पहुँचता है। इस कौशल से लेखक

पाठक-जगत् को उस स्वर्गीय विभूति की अनुभूति स्वभावतः करा देता है जिसका वह चित्र खींचना चाहता है। यदि वह ऐसा न करे तो उसका वस्तु-समीक्षण अशक्त रह जाय। "स्वप्न की रंगीन संध्या" तथा "स्वर्ण रहस्य के प्रभात" का आभास यदि वह न दे चुका रहेगा तो हम उसके स्वर्ग का यौवनपूर्ण उन्माद सहन न कर सकेंगे। उसकी "वन्य कुसुमों की झालरें सुख-शीतल पवन से विकंपित होकर चारों ओर झूल रही थीं। छोटे छोटे झरनों की कुल्याएँ कतराती हुई बह रही थीं। लता-वितानों से ढकी प्राकृतिक गुफाएँ शिल्प-रचना-पूर्ण सुंदर प्रकोष्ठ बनातीं, जिनमें पागल कर देनेवाली सुगंध की लहरें नृत्य करती थीं। स्थान स्थान पर कुंजों और पुष्प-शय्याओं का समारोह, छोटे छोटे विश्राम-गृह, पान-पात्रों में सुगंधित मदिरा, भाँति भाँति के सुस्वादु फल, फूलवाले वृक्षों के झुरमुट, दूध और मधु की नहरों के किनारे गुलाबी बादलों का क्षणिक विश्राम, चाँदनी का निभृत रंगमंच, पुलकित वृक्ष-फूलों पर मधु-मक्खियों की भन्नाहट, रह रहकर पक्षियों की—हृदय में चुभनेवाली—तानें, मणि-दीपों पर लटकती हुई मालाएँ; तिस पर सौंदर्य के छँटे हुए जोड़े—रूपवान् बालक और बालिकाओं का हास-विलास, संगीत की अबाध गति में छोटी छोटी नावों पर उनका जल-विलास!" आदि वाक्यावली को हम मृत्यु-लोक-निवासी किस प्रकार समझ सकेंगे?

इस चमत्कारवाद में एक बात और भी है। वह यह कि पाठक-वर्ग का चित्त शीघ्र अपने कथानक की ओर खींचने के लिये लेखक सदैव सतर्क दिखाई पड़ता है। यह अवतरण

इस प्रकार का साक्षी है। इसी प्रकार का चमत्कारपूर्ण समारंभ 'प्रसाद' जी सदैव अपनी रचनाओं में रखते हैं। पाठक के हृदय पर इसका बड़ा मार्मिक प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार का वर्णनीय विषय हो उसी प्रकार का आरंभ होने से उसको अनुकूल हृदय उपस्थित करने का अच्छा प्रोत्साहन मिल जाता है। यही कारण है कि कुशल नाट्यकार सदैव प्रभावात्मक समारंभ का आयोजन आवश्यक समझते हैं। इससे इधर-उधर अव्यवस्थित चित्त एकाग्र हो जाता है। इस चमत्कारवाद में विशेषता यह रहती है कि लेखक सदैव वास्तविकता (Realism) की ओर भी झुका रहता है। इस झुकाव का प्रभाव उसके कथनोपकथन के वाक्य-विन्यास पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। साधारणतः नित्य के व्यवहार में हम जिस प्रकार वाक्यों का उपयोग करते हैं अथवा बातचीत की झोंक में जिस भाँति हम वाक्यों की बनावट में उलट-फेर कर देते हैं उसी प्रकार 'प्रसाद' जो अथवा इस दल के सभी लेखक वास्तविकता का शुद्ध आभास देने के विचार से प्रायः वाक्यों की व्याकरण-सम्मत बनावट में उलट-फेर कर देते हैं। जैसे—"दुर्दांत दस्यु ने देखा, अपनी प्रतिभा में अलौकिक एक वरुण-बालिका!" "चलोगी चंपा! पोतवाहिनी पर असंख्य धनराशि लादकर राज-रानी सी जन्मभूमि के अंक में?" "प्रिय नाविक! तुम स्वदेश लौट जाओ विभवों का सुख भोगने के लिये और मुझे छोड़ दो इन निरीह भोले-भाले प्राणियों के दुःख की सहानुभूति और सेवा के लिये।" "इतने में ध्यान आया, उस धीवर-बालिका का" इस प्रकार का नाट्यात्मक कथनोपकथन स्थान स्थान पर उनकी छोटी छोटी कहानियों में भी रहता है।

इतिवृत्त का विधान ये बड़ी रुचिकर विधि से करते हैं। इसमें सजीवता के अतिरिक्त बड़ा सुंदर धारा-प्रवाह रहता है। कथनोपकथन और मानसिक चिंतन में तो प्रवाह का निर्वाह अवश्य ही हुआ है। साथ ही इतिवृत्त के विवरण में भी उसका तारतम्य बड़ी उत्कृष्टता से प्राप्त होता है। ऐसे स्थानों पर प्रत्येक वाक्य में कर्ता स्पष्ट नहीं लिखा गया। उसका संस्थापन मन में स्वभावतः उपस्थित रहता है। यदि ऐसा न किया जाय तो विवरण धारावाहिक तो होगा ही नहीं वरन् समस्त वाक्य-समूह में रुकावट सी पड़ जायगी, जिससे वाक्य की सरसता नष्ट हो जायगी। इस रूखेपन अथवा विशृंखलता से भाषा का सौष्ठव तो नष्ट हो ही जायगा, इसके अतिरिक्त भाव-व्यंजना का सम्यक् स्फुरण भी न हो सकेगा। 'प्रसाद'जी की सभी रचनाओं में इस प्रवाह का आनंद मिलता है। इस प्रवाह के साथ साथ भावनाओं का चित्र सा उपस्थित हो जाता है। इस चित्र में मार्मिकता तथा सजीवता रहती है। जैसे :—

"सुदर्शन ने देखा सब सुंदर है। आज तक जो प्रकृति उदास चित्र बनाकर सामने आती थी, उसकी मोहिनी और मधुर सौंदर्य की विभूति को देखकर सुदर्शन की तन्मयता उत्कंठा में बदल गई। उसे उन्माद ले चला। इच्छा होती थी कि वह समुद्र बन जाय। उसकी उद्वेलित लहरों से चंद्रमा की किरनें खेलें और हँसा करें। इतने में ध्यान आया उस धीवर की बालिका का। इच्छा हुई वह भी वरुण-कन्या सी चंद्र-किरणों से लिपटी हुई उसके विशाल वक्षःस्थल में विहार करे। उसकी आँखों में गोल धवल पालवाली नाव समा गई, कानों में अस्फुट संगीत भर गया। सुदर्शन उन्मत्त था। कुछ पद-

शब्द सुनाई पड़े। उसे ध्यान आया मुझे लौटा ले आने के लिये कुछ लोग आ रहे हैं। वह चंचल हो उठा। फेनिल जलधि में फाँद पड़ा। लहरों में तैर चला।"

कितना स्वाभाविक और वास्तविक भावावेश है। यही कारण है कि भाषा भी स्वाभाविक और चलती हुई है। इसके अतिरिक्त उसमें काव्य का प्रौढ़तम उन्माद है। लेखक गद्य में पद्यात्मक अभिव्यंजना की अनुभूति कराता है।

इसके अतिरिक्त उन स्थानों पर भी—जहाँ इतिवृत्त में भावावेश का प्रसार तनिक भी नहीं सम्मिलित रहता—व्यंजनात्मक अनोखापन उपस्थित रहता है। वाक्य-विन्यास सरल तथा स्पष्ट होते हैं। भाषा अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक एवं वाक्य-विस्तार संकुचित होता है। प्रत्येक वाक्य में कर्ता की आवश्यकता नहीं पड़ती। सर्वनाम आदि भी विशेष प्रयोजनीय नहीं समझा जाता। इन विचित्रताओं के रहते हुए भी इतिवृत्तात्मक कथन की सत्यता प्रमाणित की जाती है—"पहाड़ जैसे दिन बीतते ही न थे। दुख की सब रातें जाड़े की रात से भी लंबी बन जाती हैं। दुखिया तारा की अवस्था शोचनीय थी। मानसिक और आर्थिक चिंताओं से वह जर्जर हो गई। गर्भ के बढ़ने से शरीर से भी कृश हो गई। मुख पीला हो चला। अब उसने उपवन में रहना छोड़ दिया, चाची के घर में जाकर रहने लगी। वहीं सहारा मिला। खर्च न चल सकने के कारण वह दो-चार दिन बाद एक वस्तु बेचती, फिर रोकर दिन काटती। चाची ने भी उसे अपने ढंग पर छोड़ दिया। वहीं तारा टूटी चारपाई पर पड़ी कराहा करती।"

जिस प्रकार नाट्य-रचना में हम बाबू जयशंकर प्रसाद को पाते हैं उसी प्रकार उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचंद्रजी की उत्कृष्टता है। यों तो उपन्यास-रचना बाबू हरिश्चंद्र ही के समय से आरंभ हो गई थी, किंतु वह केवल समारंभ कहा जा सकता है; क्योंकि उस समय तक न तो भाषा में परिपक्वता आई थी और न मनोवैज्ञानिक रीति से भाव-व्यंजना की ही उद्भावना हुई थी। जो अवस्था नाटकों की थी वही उपन्यासों की भी थी। अब उपन्यासों में भी मनोवैज्ञानिक भाव-व्यंजना के अतिरिक्त चरित्र-चित्रण आदि की ओर भी लोगों का ध्यान गया है। इसके विस्तार का श्रेय इसी मौलिक उपन्यास-लेखक को दिया जा सकता है। इनकी कृतियों में वस्तु, भावावेश, भाषा, चरित्र-चित्रण और कथोपकथन सभी की प्रौढ़ता है। इस विचार से ये हिंदी-साहित्य में प्रथम उत्कृष्ट मौलिक उपन्यासकार हैं। "मनुष्य की अंतःप्रकृति का जो विश्लेषण और वस्तु-विन्यास की जो अकृत्रिमता इनके उपन्यासों में मिली, वह पहले और किसी मौलिक उपन्यासकार में नहीं पाई गई थी।"

प्रेमचंद्रजी

पर इनकी साहित्य-रचना का आरंभिक काल बड़ा चिंताजनक था। यों तो कुछ विचित्रताएँ उसी रूप में अभी तक चली आती हैं, परंतु वे नहीं के बराबर हैं। जिस समय उन्होंने छोटी छोटी कहानियाँ लिखना आरंभ किया था उस समय भाषा का लचरपन और भाव-शोधन का अभाव तो था ही, इसके अतिरिक्त ये व्याकरण की सामान्य भूलें भी करते थे; प्रांतीयता का भद्दा स्वरूप भी स्थान स्थान पर मिलता था। "वे.....समझे कोई यात्री होगा।" "कल नहीं

बाबू प्रेमचंद

पड़ता था", "कुँवर और कुँवरियाँ", "चौकीदार और लौंडियाँ सब सिर नीचे किए दुर्ग के स्वामी के सामने उप-स्थित थे।" "कस्बे के लड़के लड़कियाँ श्वेत थालियों में दीपक लिए मंदिर की ओर जा रहे थे।" "वह उसे समझाते।" "मैं जवाब देते हैं।" "मनसा, वाचा, कर्मणा से सिर झुकाया।" "एकत्रित" (एकत्र), "देश:हितैपिता के उमंग से", "हम लोगों से जो भूल-चूक हुई वह क्षमा किया जाय।" इत्यादि। इसके अतिरिक्त ये कुछ अव्यवस्थित, अप्रयुक्त एवं प्राचीन शब्दों का भी स्वतंत्रता से व्यवहार करते थे। जैसे, "फुरता फुरती", "निरंग", "डोलों", "झौंक नैत", "रवादार", "सपूधारा", "गुजरान", "अबके" इत्यादि। 'शांत' के स्थान पर अधिकतर "शांति" लिखते थे। विरामादिक चिह्नों का भी उपयुक्त प्रयोग नहीं समझते थे। जिस स्थान पर अर्ध-विराम नहीं भी चाहिए, वहाँ भी अर्ध-विराम रख देते थे। जैसे—"विनय किए, हजारों खुशामदें कीं, खानसामों की झिड़कियाँ सहीं।" बिना बात समाप्त किए ही विराम का चिह्न दे बैठते थे। जैसे—"जिस भाँति सितार की ध्वनि गगन-मंडल में प्रतिध्वनित हो रही थी। उसी भाँति प्रभा के हृदय में लहरों की हिलोरें उठ रही थीं।" इस प्रकार के अनेक अवतरण उपस्थित किए जा सकते हैं। 'ही' का प्रयोग भी सदैव अनुचित हुआ करता था। इससे कभी कभी अर्थ-बोध में अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है। "ये सब काँटे मैंने बोए ही हैं",—वस्तुतः लेख का अभिप्राय यहाँ पर उस अर्थ से है जो 'ही' को "मैंने" के उपरांत रखने से निकलता है। 'सम्मुख' को ये सदैव 'सन्मुख' लिखते थे।

इन त्रुटियों के रहते हुए भी मुहावरेदानी गजब की होती थी। उर्दू में हाथ मजे रहने के कारण इन्होंने मुहावरों का बड़ा उपयुक्त उपयोग किया है। कहीं कहीं तो इन्होंने मुहावरों की झड़ी लगा दी है। लगातार मुहावरों से ही वाक्य पूरे होते गए हैं। "उस समय गिरधारीलाल का चेहरा देखने योग्य होगा। मुँह का रंग बदल जायगा, हवाइयाँ उड़ने लगेंगी, आँखें न मिला सकेगा। शायद मुझे फिर मुँह न दिखा सके।" इत्यादि)

प्रेमचंद्रजी की आरंभिक रचनाओं में प्रौढ़ता न थी। उन कृतियों को देखकर यह आशा नहीं की जा सकती थी कि कुछ ही दिनों में उनमें आकाश-पाताल का अंतर हो जायगा। उस समय न तो उनकी भाषा ही संयत होती थी और न भाव-व्यंजना ही। वाक्यों की छोटाई पर ध्यान देने से यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि वे इसलिये छोटे नहीं होते थे कि भाव अधिक स्पष्ट हों वरन् वे लेखक की भीरुता के कारण ऐसे लिखे जाते थे। उस समय ये बड़े बड़े वाक्यों के संबंध-क्रम का निर्वाह ही नहीं कर सकते थे। यही कारण है कि भाषा में शिथिलता उत्पन्न हो गई है। एक एक वाक्य में भाव टुकड़े टुकड़े होकर रखे मिलते हैं। वाक्य-समूह असंबद्ध और धारा-प्रवाह छिन्न-भिन्न होता था। इनके मुहावरों के सुंदर प्रयोग से भले ही सजीवता उत्पन्न हो जाती रही हो, परंतु इनकी लेख-चातुरी की सराहना कदापि नहीं की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त उस समय की लिखी कहानियों में भावना का प्रौढ़ प्रसार भी नहीं मिलता। भाव-व्यंजना में अपरिपक्वता स्पष्ट झलकती है। चरित्र-चित्रण में भी वह मनोवैज्ञानिक विवेचन और

उत्थान-पतन न मिलेगा, जो आज स्वाभाविक सा दिखाई पड़ता है। संस्कृत-तत्समता का बनावटी प्रयोग यह दिखाता था कि एक मौलवी पंडित बनना चाहता है। इसका तात्पर्य केवल यह है कि उनके संस्कृत शब्दों के प्रयोग में अपनापन न था। भाषा साधारणत: उखड़ी मालूम पड़ती थी। उस समय की एक कहानी का छोटा सा अवतरण देखिए :—

"हमारे पहलवानों में वैसा कोई नहीं है, जो उससे बाज़ी ले जाय। मालदेव की हार ने बुँदेलों की हिम्मत तोड़ दी है। आज सारे शहर में शोक छाया हुआ है। सैकड़ों घरों में आग नहीं जली। चिराग़ रोशन नहीं हुआ। हमारे देश और जाति की वह चीज़ अब अंतिम स्वास ले रही है, जिससे हमारा मान था। मालदेव हमारा उस्ताद था। उसके हार चुकने के बाद मेरा मैदान में आना धृष्टता है। पर बुँदेलों की साख जाती है तो मेरा सिर भी उसके साथ जायगा। क़ादिर ख़ाँ बेशक अपने हुनर में एक ही है, पर मेरा मालदेव कभी उससे कम नहीं। उसकी तलवार यदि उसके हाथ में होती तो मैदान ज़रूर उसके हाथ रहता। ओरछे में केवल एक तलवार है जो क़ादिर ख़ाँ की तलवार का मुँह मोड़ सकती है। वह भैया की तलवार है। अगर तुम ओरछे की नाक रखना चाहती हो तो उसे मुझे दे दो। यह हमारी अंतिम चेष्टा होगी। यदि अबके हार हुई तो ओरछे का नाम सदैव के लिये डूब जायगा।"

इन त्रुटियों का क्रमश: परिमार्जन होता गया। भाव-व्यंजना का जो प्रौढ़ रूप इनकी रचना में आज दिखाई देता है वह कुछ ही काल पूर्व इस प्रकार का था यह आश्चर्य-जनक है। इस प्रकार की आध्यवसायिक उन्नति कम देखने में आती है। उनकी उस समय की त्रुटियाँ संस्कारजन्य थीं.

अतएव आज भी उनका कुछ न कुछ आभास मिलता ही है। पर वे विशेष खटकती नहीं। उन्होंने अपनी कहानियों और उपन्यासों में चमत्कार का विशेष उपयोग नहीं किया। इसका आरंभ सदैव इतिवृत्तात्मक कथानक से होता है। जिस नवीनता एवं चमत्कार का दर्शन हमें 'प्रसाद' जी की रचनाओं में हो चुका है ठीक उसके विपरीत इनकी रचना में मिलता है। उनकी भाव-व्यंजना में काव्य-कल्पना का उल्लास दिखाई पड़ता है; पर इनकी रचना मृत्यु-लोक की व्यावहारिक सत्ता का चित्र है। उनकी भाषा में उन्मुक्त उन्माद एवं विशुद्धता दिखाई पड़ती है; परंतु इनकी शैली में भाषा का व्यावहारिक चलतापन विशेष उल्लेखनीय है। उनके कथानक का समारंभ कुतूहल और चमत्कार के साथ स्वाभाविकता का आधार लेकर उत्पन्न होता है और इनका जगत् की स्थूल विवेचना एवं नित्य की अनुभूतियों के आश्रय पर खड़ा होता है। एक स्वर्ग का आह्लादपूर्ण यौवन है और दूसरा हमारे साथ दिन-रात रहनेवाला मृत्यु-लोक का सहचर। एक में हम प्रकृति का मनोरम शृंगार पाते हैं; दूसरे में मानव-जीवन की सहचरी समीक्षा। एक हमें स्वर्गीय मधुरता का प्रतिबिंब दिखाता है और दूसरा वास्तविक संसार का चित्र।

इनकी शैली का विवेचन करते समय एक बात स्पष्ट सामने आती है, वह यह कि अपने विचारों को स्थूल बनाने के लिये उन्होंने सदैव 'जैसे', 'तैसे', 'मानो' का प्रयोग किया है। इससे उनका तात्पर्य केवल कथित विषय को अधिक बोधगम्य बनाने की चेष्टा ही ज्ञात होता है। कहीं कहीं

तो यह अत्यंत स्वाभाविक और उपयुक्त प्रतीत होता है। इससे भाव-व्यंजना अधिक सुंदर हो गई है। परंतु अनेक स्थानों पर अस्वाभाविक एवं अप्रयोजनीय भी ज्ञात होता है। इस आलंकारिक पद्धति का अनुसरण करने में यही तो अड़चन उपस्थित होती है कि यदि वह वास्तविकता का सीमोल्लंघन कर गई तो सुंदर के स्थान पर भयंकर ही नहीं वरन् अरुचिकर भी हो जाती है। जैसे—"व्याकुल हो गई—जैसे दीपक को देखकर पतंग; वह अधीर हो उठी—जैसे खाँड़ की गंध पाकर चींटी। वह उठी और द्वारपालों, चौकीदारों, की दृष्टियाँ बचाती हुई राजमहल के बाहर निकल आई—जैसे वेदना-पूर्ण क्रंदन सुनकर आँसू निकल आते हैं।" "जैसे चाँदनी के प्रकाश में तारागण की ज्योति मलिन पड़ गई थी, उसी प्रकार उसके हृदय में चंद्ररूपी सुविचार ने विकार रूपी तारागण को ज्योतिर्हीन कर दिया था।" "जिस प्रकार अरुण का उदय होते ही पक्षी कलरव करने लगते हैं और बछड़े किलोलों में मग्न हो जाते हैं, उसी प्रकार सुमन के मन में भी क्रीड़ा करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई।" "जब युवती चली गई तो सुभद्रा फूट-फूटकर रोने लगी। ऐसा जान पड़ता था मानो देह में रक्त ही नहीं, मानो प्राण निकल गए हैं। वह कितनी निःसहाय, कितनी दुर्बल, इसका आज अनुभव हुआ। ऐसा मालूम हुआ मानो संसार में उसका कोई नहीं है। अब उसका जीवन व्यर्थ है। उसके लिये अब जीवन में रोने के सिवा और क्या है। उसकी सारी ज्ञानेंद्रियाँ शिथिल सी हो गई थीं मानो वह किसी ऊँचे वृक्ष से गिर पड़ी हो।" "जैसे सुंदर भाव के समावेश से कविता में जान पड़ जाती है

और सुंदर रंगों से चित्र में, उसी प्रकार दोनों बहनों के आ जाने से झोपड़े में जान आ गई। अंधी आँखों में पुतलियाँ पड़ गई हैं। मुरझाई हुई कली शांता अब खिलकर अनुपम शोभा दिखा रही है। सूखी हुई नदी उमड़ पड़ी है। जैसे जेठ-वैसाख की तपन की मारी हुई गाय सावन में निखर जाती है और खेतों में किलोलें करने लगती है, उसी प्रकार विरह की सताई हुई रमणी अब निखर गई है।"

कथोपकथन के क्रमिक विकास में इस बात की बड़ी आवश्यकता होती है कि उस समय की वाक्य-योजना में वह स्वाभाविक भावभंगी हो जो वस्तुतः नित्य के व्यवहार में प्राप्त होती है। बातचीत में प्रायः वाक्य का शुद्ध क्रम नहीं रह जाता। जैसे "आप जाइए, आपको क्या पड़ी है।" को साधारण कथोपकथन में कहा जायगा—"जाइए आप। क्या पड़ी है आपको।" इसी कारण वास्तविकतावादी अधिकतर नाट्य-प्रणाली का अनुसरण करते हैं। इस नाट्य-प्रणाली का अनुसरण 'प्रेमचंद्र' में नहीं प्राप्त होता। वे सीधे-सादे व्याकरण के निश्चित मार्ग का अवलंबन समीचीन समझते हैं। इससे कथोपकथन की भाषा शिथिल सी हो गई है। जिन स्थानों पर इन्होंने इस नाट्य-प्रणाली का अनुसरण किया है, वहाँ पर जीवन आ गया है; परंतु ऐसे स्थल न्यूनातिन्यून हैं। 'मानो उसका कोई है ही नहीं संसार में' न लिख के सदैव सीधा-सादा रूप "मानो संसार में उसका कोई नहीं है" लिखते हैं। "युक्ति कोई ऐसी बताइए कि कोई अवसर पड़े तो मैं साफ़ निकल जाऊँ" ही लिखेंगे। इस प्रकार नाटकोपयोगी कथोपकथन प्रेमचंद्र की रचना में अधिक न मिलेगा।

कहीं कहीं जहाँ हृदय की धधकती अग्नि बाहर निकलने की चेष्टा करती है; अथवा जहाँ हृदय से, अधिक दिनों के संचित उद्गार, वायु के प्रबल वेग की भाँति निकलना चाहते हैं वहाँ भाषा भी स्वभावतः संयत और भावुक हो गई है। पर ऐसे स्थान हैं बहुत थोड़े। जैसे—"सुमन ने आँखें खोलीं और उन्मत्तों की भाँति विस्मित नेत्रों से शांता की ओर देखकर बोली, कौन शांति? तू हट जा, मुझे मत छू, मैं पापिनी हूँ, मैं अभागिनी हूँ, मैं भ्रष्टा हूँ, तू देवी है, तू साध्वी है, मुझसे अपने को स्पर्श न होने दे, इस हृदय को वासनाओं ने, लालसाओं ने, दुष्कामनाओं ने मलिन कर दिया है, तू अपने उज्ज्वल स्वच्छ हृदय को पास मत ला, यहाँ से भाग जा। वह मेरे सामने नरक का अग्निकुंड दहक रहा है, यम के दूत मुझे उस कुंड में झोंकने के लिये घसीटे लिए जाते हैं, तू यहाँ से भाग जा। यह कहते कहते सुमन फिर मूर्च्छित हो गई।"

(यों तो इनकी सभी रचनाएँ खिचड़ी भाषा में हुई हैं—उनमें हिंदी-उर्दू का परिमार्जित सम्मिश्रण हुआ है, परंतु कथोपकथन में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है। उसमें यदि बोलनेवाला मुसलमान है तो उर्दू की तत्समता और यदि हिंदू है तो संस्कृत की तत्समता अधिक प्रयुक्त हुई है। इनका यह विचार उचित है अथवा अनुचित, स्वाभाविक है या अस्वाभाविक इसका विवेचन यहाँ समीचीन न होगा अतएव केवल इतिवृत्त का ही प्रदर्शन कराया जाता है। प्रेमचंद्रजी को जहाँ कदाचित् अवसर प्राप्त हुआ है वहाँ उन्होंने दिहाती अथवा प्रांतीय भाषा का भी प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त साधारणतः उनके वाक्य छोटे-छोटे होते हैं।

इनसे भाव-प्रकाशन में सुगमता अवश्य हुई है, परंतु धारा-प्रवाह में वड़ा विघ्न उपस्थित हुआ है। उनकी रचनाओं में—क्या उपन्यास क्या छोटी छोटी कहानियाँ सव में—धारा-प्रवाह का वड़ा व्यतिक्रम पाया जाता है। भाव-व्यंजना वड़ी उखड़ी-पुखड़ी ज्ञात होती है। एक एक वाक्य एक एक वात लेकर—अलग-विलग खड़े सामने आते हैं। एक के साथ दूसरे का कोई सामंजस्य नहीं। यह वात विशेषतः उन स्थानों में प्राप्त होती है जहाँ उन्हें इतिवृत्तात्मक विवरण देना पड़ा है अथवा विषयोद्घाटन करना पड़ा है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्हें विषयारंभ में वड़ी दुरूहता का सामना करना पड़ा है। इसके अतिरिक्त इसका एक और कारण ज्ञात होता है। वह विषय का आकस्मिक आरंभ न होना है। प्रत्येक विषय के आरंभ में कुछ न कुछ भूमिका वाँधना प्राचीन परिपाटी का उद्बोधन करना है। यह विचार केवल प्राचीन कहकर ही नहीं टाला जा सकता। इसकी दूसरी दुर्बलता यह है कि इसमें वैसा आकर्षण भी नहीं रहने पाता। अँगरेजी साहित्य में स्कॉट के उपन्यासों में भी यह वात विशेष रूप से पाई जाती है। इससे पाठक का मन सहसा पाठ्य विषय में अनुरक्त नहीं होने पाता वरन् भूमिका की झाड़ी में ही उलझकर रह जाता है। इसी भूमिका भाग में प्रेमचंद्र की शैली विशेष उखड़ी जान पड़ती है। इन इति-वृत्तात्मक स्थलों में यदि नवीन और चमत्कारपूर्ण शैली का ग्रहण किया गया होता तो इतना रूखापन न आने पाता। साथ ही पाठकों का चंचल चित्त भी विषय की ओर अविलंब आकृष्ट हो जाता।

यह शिथिलता सर्वत्र हो, यह बात नहीं है। भाषणों में स्थान स्थान पर, जहाँ हृदय के उथल-पुथल का मार्मिक चित्र अंकित किया गया है, वहाँ स्वभावतः भाव-शैली के साथ साथ भाषा-शैली भी संयत एवं रोचक हो गई है। वहाँ उनके छोटे छोटे वाक्य बड़े प्रभावशाली तथा आकर्षक हो गए हैं। इसके अतिरिक्त इन स्थानों पर धारा-प्रवाह का भी सुंदर निर्वहन पाया जा सकता है। यों तो ऐसे स्थान अधिक नहीं हैं, पर जो हैं वे बड़े ही मनोहर हैं। एक एक वाक्य दूसरे से भिड़े हुए हैं। इसी प्रकार भाव भी एक लड़ी में गुंफित दिखाई पड़ते हैं। भावों के परिष्कार के साथ साथ आकर्षण भी बढ़ जाता है। ऐसे स्थानों पर वाक्य-समूह समाप्त किए बिना वाचक रुक ही नहीं सकता। जैसे:—

"मनोरमा अचानक तन्मय-अवस्था में उछल पड़ी। उसे प्रतीत हुआ कि संगीत निकटतर आ गया है। उसकी सुंदरता और आनंद अधिक प्रखर हो गया था—जैसे बत्ती उकसा देने से दीपक अधिक प्रकाशमान हो जाता है। पहले चित्ताकर्षक था, तो अब आवेशजनक हो गया था। मनोरमा ने व्याकुल होकर कहा—आह! तू फिर अपने मुँह से क्यों कुछ नहीं मांगता। अहा! कितना विराग-जनक राग है, कितना विह्वल करनेवाला। मैं अब तनिक भी धीरज नहीं धर सकती। पानी उतार में जाने के लिये जितना व्याकुल होता है; श्वास हवा के लिये जितनी विकल होती है, गंध उड़ जाने के लिये जितनी उतावली होती है, मैं उस स्वर्गीय-संगीत के लिये व्याकुल हूँ। उस संगीत में कोयल की सी मस्ती है। पपीहे की सी वेदना है, श्यामा की सी विह्वलता है, इसमें झरनों का सा ज़ोर है आँधी का सा बल। इसमें सब कुछ है, जिसमें विवेकाग्नि प्रज्वलित, जिससे आत्मा

समाहित होता है और अंतःकरण पवित्र होता है। माँ का अब एक क्षण का विलंब मेरे लिये मृत्यु की यंत्रणा है। शीघ्र नौका खोल। जिस सुमन की यह सुगंधि है, जिस दीपक की यह दीप्ति है, उस तक मुझे पहुँचा दे। मैं देख नहीं सकती, इस संगीत का रचयिता कहीं निकट ही बैठा हुआ है, बहुत ही निकट।"

('आत्म-संगीत' शीर्षक कहानी से)

श्री प्रेमचंद्रजी ने जिस समाज का चित्र अंकित करने का बीड़ा उठाया वह दीन है। उसमें स्वर्गीय उल्लास नहीं है, उसमें उच्च भावनाओं का उन्माद नहीं है, यही कारण है कि विशेषत: उन स्थानों पर जहाँ इन्हें कारुणिक अवस्था का वर्णन करना पड़ा है, वहाँ एक दीप्ति उत्पन्न हो गई है। हमारे व्यावहारिक संसार में दीनता का साम्राज्य है। उसमें नित्य-प्रति अधिकांश ऐसे उदाहरण प्राप्त होते रहते हैं, जिन्हें देखकर करुणा का उद्रेक हुए विना नहीं रह सकता। दीन मनुष्यों का विवरण देते समय उनकी भाषा बड़ी मार्मिक और भाव-व्यंजना बड़ी ही द्रावक हुई है। भाषा का अत्यंत चलता रूप ही उन्होंने अपनी रचनाओं में रखा है। बाबू देवकीनंदन खत्री की भाषा का यह संस्कृत और परिमार्जित रूप है। प्रेमचंद्रजी की प्रतिनिधि स्वरूप यही भाषा है। इसी का प्रयोग उन्होंने अधिकतर किया है। उदाहरण निम्नांकित है—

"यह सोचता हुआ वह अपने द्वार पर आया। बहुत ही सामान्य झोपड़ी थी। द्वार पर एक नीम का वृक्ष था। किवाड़ों की जगह बाँस की टहनियों की एक टट्टी लगी हुई थी। टट्टी हटाई। कमर से पैसों की छोटी पोटली निकाली जो आज दिन भर की कमाई थी। तब झोपड़ी की छान में से टटोलकर एक थैली निकाली, जो उसके

राय कृष्णदास

जीवन का सर्वस्व थी। उसमें पैसों की पोटली बहुत धीरे से रक्खी जिसमें किसी के कान में भनक न पड़े। फिर थैली को छान में रखकर वह पड़ोस के घर से आग माँग लाया। पेड़ों के नीचे कुछ सूखी टहनियाँ जमाकर रक्खी थीं; उनसे चूल्हा जलाया। झोपड़ी में हलका सा अस्थिर प्रकाश हुआ। कैसी विडंबना थी। कैसा नैराश्यपूर्ण दारिद्र्य था। न खाट न बिस्तर, न बर्तन न भाँड़े। एक कोने में मिट्टी का एक घड़ा था, जिसकी आयु का अनुमान उस पर जमी हुई काई से हो सकता था। चूल्हे के पास हाँडी थी। एक पुरानी चलनी की भाँति छिद्रों से भरा हुआ तवा, और एक छोटी सी कठौत और एक लोटा। बस यही उस घर की सारी संपत्ति थी। मानव-लालसाओं का कितना संक्षिप्त स्वरूप था। सूरदास ने आज जितना नाज पाया था सब उसी हाँडी में डाल दिया। कुछ जव था, कुछ गेहूँ, कुछ मटर, कुछ चने, थोड़ी सी ज्वार और एक मुट्ठी भर चावल। ऊपर से थोड़ा सा नमक डाल दिया। किसकी रसना ने ऐसी खिचड़ी का मज़ा चक्खा है? उसमें संतोष की मिठास थी, जिससे मीठी संसार में कोई वस्तु नहीं। हाँडी चूल्हे पर चढ़ाकर वह घर से निकला। द्वार पर टट्टी लगाई और सड़क पर जाकर एक बनिए की दूकान से थोड़ा सा आटा और एक पैसे का गुड़ ले आया। आटे को कठौते में गूँधा और तब आध घंटे तक चूल्हे के सामने खिचड़ी का मधुर आलाप सुनता रहा। उस धुँधले प्रकाश में उसका दुर्बल शरीर और उसका जीर्ण वस्त्र मनुष्य के जीवन-प्रेम का उपहास कर रहा था।" ('रंगभूमि' से)

राय कृष्णदास

राय कृष्णदास जी भाव-प्रकाशन की एक विचित्र शैली लेकर गद्य-साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। परोक्ष सत्ता की जो भावात्मक अनुभूति मानव-हृदय में होती है उसकी व्यंजना इन्होंने बड़ी ही मार्मिक प्रणाली

से की है। एक प्रकार से इस प्रणाली का इन्होंने शिला-न्यास किया। अनुभूति के भावात्मक होने के कारण कल्पना का इन्होंने विशेष आधार रखा है। भावनाओं की गंभीरता के साथ साथ इनकी भाषा में बड़ा संयम पाया जाता है। इतनी व्यावहारिक और नित्य की चलती-फिरती, सीधी-सादी भाषा का ऐसा उपयोग किया गया है कि भाव-व्यंजना में बड़ी ही स्पष्टता आ गई है। इस भाषा को चलती-फिरती कहने का तात्पर्य केवल यह है कि तत्समता के साथ 'कलपते' और 'अचरज' ऐसे ऐसे कितने शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त साधारण उर्दू के शब्द भी प्रयोग में आए हैं। यों तो स्थान स्थान पर इन शब्दों के तत्सम रूप ही लिखे गए हैं, परंतु अधिकतर, तद्भव रूप तो एक ओर रहा मुहावरों तक को, हिंदी का झोंलगा पहनाया गया है। "दिल का छोटा है" के स्थान पर उसका शुद्ध अनुवाद करके "हृदय से लघुतर है" लिखा गया है। "उसका दिल नहीं तोड़ना चाहती थी" से कहीं अधिक उपयुक्त उन्हें "उसका हृदय नहीं तोड़ना चाहती थी" जँचता है। कुछ शब्द ऐसे भी मिलते हैं जो या तो तद्भवता के कारण बिगड़ गए हैं अथवा उनका प्रांतीय प्रयोग हुआ है। जैसे—'साहुत', 'काँदने', 'कुघरता', 'ढकोसला', 'ढइढा', 'मंगते', 'कुंडो', 'राम मोटरिया', 'अवसत' इत्यादि। ऐसा करने के केवल दो कारण हो सकते हैं। एक तो पदावली की रमणीयता और दूसरा भाषा के चलतेपन का विचार। साथ ही 'सो' (वह, इसलिये), 'हो' (हो), 'लों' (तक) से जो पंडिताऊपन प्राप्त होता है वह भी केवल भाषा की सरसता एवं स्वाभाविकता के विचार से

लिखा गया है। इन सब बातों को एक ओर रखकर हम यह देखेंगे कि ये सदैव वाक्यों को संपूर्ण करके ही छोड़ते हैं, चाहे ऐसा करना आवश्यक न भी हो। जैसे—"पर मैं अशांत, विचलित या भीत नहीं होता हूँ।" इस वाक्य में यदि 'हूँ' न भी रखा जाता तो भी वाक्य-पूर्ति में कोई बाधा न पड़ती। पर लेखक की शैली एवं प्रवृत्ति भी तो कोई वस्तु है।

इनकी भाव-व्यंजनात्मक शैली बड़ी मार्मिक तथा प्रौढ़ होती है। समासांत पदावली के बिना भी इतना सरस विवरण और बिना उत्कृष्ट शब्दावली का आश्रय लिए हुए भी इतना व्यापक एवं सुचारु रूप संभवतः अन्य स्थानों में न मिल सकेगा। उसमें उनकी वैयक्तिकता की छाप लगी हुई है। गूढ़ आत्मा-नुभूति का करुणात्मक और आकर्षक निवेदन कितना भावमय हो सकता है इसका सफल प्रमाण उन्होंने अपनी 'साधना' में दिखाया है। छोटे छोटे वाक्यों का प्रभावशाली सम्मेलन अपूर्व ही छटा दिखाता है। भाव-प्रकाशन के सरल, मनोहर, चलते ढंग का उदाहरण नीचे देखिए:—

"मैं अपनी मणि-मंजूषा लेकर उनके यहाँ पहुँचा पर उन्हें देखते ही उनके सौंदर्य पर ऐसा मुग्ध हो गया कि अपनी मणियों के बदले उन्हें मोल लेना चाहा। अपनी अभिलाषा उन्हें सुनाई। उन्होंने सस्मित स्वीकार करके पूछा कि किस मणि से मेरा बदला करोगे? मैंने अपना सर्वोत्तम लाल उन्हें दिखाया। उन्होंने गर्व-पूर्वक कहा—अजी, यह तो मेरे मूल्य का एक अंश भी नहीं। मैंने दूसरी मणि उनके आगे रक्खी। फिर वही उत्तर। इस प्रकार उन्होंने मेरे सारे रत्न ले लिए। तब मैंने पूछा कि मूल्य कैसे पूरा होगा? वे कहने लगे कि तुम अपने को दो तब पूरा हो।"

"नदियों ने अपने खेलने का स्थान अपने जन्मदाता पहाड़ों की गोद में रक्खा है, जहाँ वे एक चट्टान से कूदकर दूसरी पर जाती हैं, जहाँ वे ढोकों के संग खेल-कूद मचाती हैं और छींटे उड़ाती हैं तथा प्रसन्न होकर फेन-हास्य हँसती हैं, जहाँ वे अपनी ओर झुकी लता-अलियों का हाथ पकड़कर उन्हें अपने संग ले दौड़ना चाहती हैं, जहाँ उनके बाल-संघाती क्षुप अंकुरांगुलियों से गुदगुदाते हैं और वे तनिक सा उचककर तथा वंक होकर बढ़ जाती हैं, जहाँ वे लड़कपन में भोले-भाले मनमाने गीत गाती हैं और उनके पिता उनके प्रेम से उन्हें दुहराते हैं, और जहाँ वे पूरी ऊँचाई से वेग के साथ कूदकर गढ़ों में आती हैं और आप ही अपना दर्पण बनाती हैं।" ('साधना' से)

इन्होंने भावावेश की चामत्कारिक प्रणाली का अनुसरण किया है। इनकी रचना में भी हमें वही उल्लास एवं उन्माद प्राप्त होता है जो कि पूर्वोक्त 'प्रसाद' जी की रचनाओं में मिल चुका है। इन्हें भी प्रेमचंद्रजी की व्यावहारिकता से काम नहीं। सांसारिक घटनाओं में ये अपने पाठकों को नहीं पड़े रहने देना चाहते। उन्हें वे कल्पना की स्वर्गीय विभूति का दर्शन कराना चाहते हैं—"कल्पना का लोक" जो ब्रह्मलोक से भी ऊपर है। यही कारण है कि "दीप्तिमान नीली यवनिका के आगे सहज सस्मित भगवान अमिताभ के दर्शन" मिलने पर "लौकिक प्रसन्नता का" काम नहीं रह जाता। यही कारण है कि उनकी 'आशा' भी रूपात्मक सत्ता धारण कर 'लावण्यवती' बन जाती है; "अतीत वर्तमान बनकर उसके सामने अभिनय करने" लगता है। उनकी आँखों से आँसू नहीं वरन् "ममता की दो बूँद टपक" पड़ती है। "उस वीतराग की ममता ही उनका एक मात्र असबाब" बनता है। 'प्रातः-

काल हुआ। सूर्य निकला।' कहना उन्हें पसंद नहीं। उनको तो "दिन का आगमन जानकर तमोभुजंगम उदयाचल की सुनहली कंदराओं में जा छिपा। जल्दी में उसका मणि छूट गया।" कहना ही रुचता है। 'उसके मन में धुँधले बादल की तरह भावना' उठती है। संसार की स्थूल अभि-व्यक्तियों में उसकी कोई अनुरक्ति नहीं दिखाई पड़ती।

इस प्रकार की भावावेश की शैली में यदि स्थान स्थान पर वाक्य-विन्यास की ओर विशेष ध्यान न रखा जाय तो भाव-व्यंजना रूखी हो जाय। शब्दों के चामत्कारिक प्रयोगों के साथ पद-लालित्य का सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है। तभी भाषा-माधुरी उत्पन्न होती है। इस माधुरी की भाव-प्रकाशिनी शक्ति उस स्थान पर और अधिक शक्तिशालिनी बन जाती है—वाक्यों की बनावट में उलट-फेर हो जाता है। "उत्कट इच्छा होती है, वहाँ चलने की।" "सम्राट् ने एक महल बनाने की आज्ञा दी—अपने वैभव के अनुरूप, अपूर्व, सुख और सुषमा की सीमा।" "कब मैं चला, कब प्रातः-काल का स्वागत पक्षियों के कोमल और मधुर कंठ ने किया, कब दोपहर की सूचना पवन की सनसनाहट ने दी, कब स्निग्ध पत्तियों को अपने करों का स्पर्श करके उन्हें अनुराग से किसलयों के सदृश बनाता हुआ सूर्य विदा हुआ, मुझे कुछ मालूम नहीं। कब उसके विदा होते ही नभस्सर में लाखों नलिनी खिल उठीं, कब चंद्रमुखी रजनी आई, इसका भी ज्ञान नहीं।" इसके अतिरिक्त ऊहात्मक विवरण भी आप बड़ा सुंदर देते हैं। उसमें स्वाभाविकता के साथ साथ चमत्कार रहता है। "महाराज की अंगारे जैसी आँखें चित्रकार को

भस्म कर रही थीं।" "संध्या का शीतल समीर उसके उष्ण मस्तक से टकराकर भस्म हुआ जाता था। कुमार को बोध होता था कि सारा प्रासाद भूकंप से ग्रस्त है। अनेकानेक प्रेत-पिशाच उसे जड़ से उखाड़े डालते हैं। क्षितिज में सांध्य-लालिमा नहीं, भयंकर आग लगी हुई है। प्रलय-काल में देर नहीं।" "एक तरुणी तपस्या कर रही थी—घोर तपस्या कर रही थी। उसकी तपस्या से त्रैलोक्य काँप उठा।" इत्यादि।

भाव-व्यंजना में इन्होंने अलंकार की शैली का मनोहर उपयोग किया है। जैसे, तैसे का एक रूप हम श्री प्रेमचंद्रजी की रचनाओं में पाते हैं। उनके भावाधार व्यावहारिक जगत् के हैं, अतएव उनकी उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ भी नित्य के साधारण व्यवहार-क्षेत्र की हुई हैं। परंतु राय कृष्णदासजी की उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं में असाधारण अनुभूति की व्यंजना एवं काल्पनिक विभूति का प्रकाशन है। उनकी भावात्मक विचार-शैली के चमत्कारवाद का प्रभाव इस आलंकारिक कथन पर भी पड़ा है। उनका अनुभव-जगत् कितना दिव्य एवं उत्कृष्ट है इसका पता इससे सरलता से लग जाता है। उनके इस आलंकारिक कथन से शैली दुरूह हो गई हो ऐसी बात भी नहीं है। उसमें भावों का इतना अच्छा परिष्कार हुआ है कि कथन-प्रणाली में महत्त्व-पूर्ण आकर्षण आ गया है। राय साहब के इस अलंकारवाद में उनकी प्रतिभा की प्रखरता एवं कल्पना की विशदता प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित है। जैसे—"चिकनी निहाई में उस आभू-षण की छाया, ब्राह्म मुहूर्त की धूसरता में ऊषा के प्रकाश

की भाँति झलक रही थी।" "जिस प्रकार ज्वालामुखी के लावा का प्रवाह आँख मूँदकर दौड़ पड़ता है और उसके आगे जो पड़ता है, उसे ध्वस्त करता चलता है, उसी प्रकार राजकुमार का मानसिक आवेश भी अंधा होकर दौड़ रहा था।" "यदि प्रतप्त अंगार औचक शीतल पानी में पड़ जाय तो शतधा फट जाता है, उसी तरह उसके हृदय की दशा हो रही थी।" "महारानी उसी शकल में घड़धड़ाती हुई राज-सभा में उतर आई—पहाड़ी प्रवाह के वेग में दौड़नेवाली शिला की तरह !" "वह कन्या प्रभातवेला के ऐसी टटकी और कमनीय है तथा स्वाती की बूँद की तरह निर्मल, शीतल और दुर्लभ है।" "जिस प्रकार अचेतन यंत्र चेतन बनकर काम करने लगता है उसी प्रकार यह चेतन, अचेतन यंत्र होकर, अपनी धुन में लगा था।" "सम्राट् का स्वप्न विकीर्ण हो गया, जैसे गुलाब की पँखड़ियाँ अलग अलग होकर उड़-पुड़ जाती हैं।" "गुलाब की क्यारियाँ खिली हुई हैं। बीच बीच में प्रफुल्ल बेले की बल्लियाँ हैं, मानो नवेली प्रकृति के सौंधे ओठों में दशन-पंक्ति दमक रही हैं।" "सुप्त बालक के मुँह पर जिस प्रकार हँसी झलक जाती है उसी तरह दिन बीत गया। शिखर को जिस भाँति धीरे धीरे कुहरा आच्छादित करता है उसी भाँति अँधेरा बढ़ने लगा।" "वह देखो समभूमि पर की नदियाँ और जंगल कैसे भले मालूम होते हैं। मानो वसुंधरा ने अपनी अलकों को मोतियों की लड़ों से अलंकृत किया है। क्षितिज में रंग-बिरंग बादल उसकी साड़ी की भाँति शोभित हो रहे हैं।" केवल भाव-व्यंजना के ऊहात्मक विवरण देने में ही उन्होंने इस

आधार से काम नहीं लिया वरन् स्थान स्थान पर भाव-श्रृंखला के बढ़ाने में भी इसका प्रयोग हुआ है। जैसे—"जिस समय तुम देखते हो कि विशालकाय गज़राज किसी परम लघु उद्वेग से हारकर विचलित हो रहा है उस समय तुम उसके गंडस्थलों से मद बहाने लगते हो और वह प्रकृतिस्थ हो जाता है। उसी प्रकार जिस समय तुम देखते हो कि मेरा मन क्षुब्ध हो रहा है और क्रुद्ध सागर में पड़े पोत सी मेरी दशा हो रही है उस समय तुम मेरे आँसू बहाने लगते हो और मैं शांत हो जाता हूँ।" इत्यादि।

भाषा-शैली की दिव्यताओं के साथ साथ उनमें धारा-प्रवाह का संयत और आकर्षक रूप रहता है। आकर्षक वह इस प्रकार होता है कि एक स्थान से पढ़ना आरंभ करने पर किसी स्थान विशेष पर ही जाकर प्रगति रुकती है। इससे शैली में दृढ़ गठन उत्पन्न होता है। वाक्य परस्पर संबद्ध होते हैं। एक वाक्य के पढ़ते ही आगामी वाक्य का आभास मस्तिष्क में स्वयं उपस्थित हो जाता है। वाक्य-विन्यास की सुंदरता इससे और भी उद्दीप्त हो गई है, क्योंकि शब्द-शोधन और चयन बड़ा ही उपयुक्त बन पड़ा हैं। यदि लेखक रूखे-सूखे इतिवृत्तात्मक स्थानों पर भी धारा-प्रवाह का निर्वाह कर लेता है तो और कहाँ किसी स्थान पर उसकी इस विभूति की परीक्षा प्रयोजनीय नहीं। ऐसे स्थानों पर भी राय साहब की लेखनी बड़ा मार्मिक चित्र उपस्थित करती है। जैसे :—

"अब स्वर्णकार के सामने एक स्वप्न का आविर्भाव हुआ। निद्रा के तमिस्र लोक में आलोक का संचार होने लगा। स्वर्णकार ने अपने

को एक प्रभापूर्ण घाटी में पाया। चारों ओर छोटी छोटी टकारियाँ थीं; उन पर हरियाली का अटल राज्य। वनस्पति जगत् के संग सूर्य्य की किरणें खेल रही थीं। सारी वनस्थली फूलों से लदी हुई थी। रंगों का मेला लग रहा था—वही प्रकृति का मीना-बाजार था। सौरभ का कोश खुला हुआ था। मधुप की सेलियाँ गुंजार कर रही थीं। पुष्पावलियों पर झूम रही थीं। इधर-उधर चिड़ियाँ चहचहा रही थीं। बीच में एक स्वच्छ फेनिल क्षीण स्रोत कलकल करके बह रहा था। वसंत पवन धीरे धीरे चल रहा था। अटकता हुआ चल रहा था। पुष्पों की भीड़ में उसे मार्ग ही न मिलता था। एक एक भूलभुलैया में पड़ा हुआ था।" "स्रोत के उस पार एक बाला पुष्प वन अलसगति से घूम रही थी। वह इस पुष्प-समूह की आत्मा है क्या? उसका सारा शरीर पुष्पाभरणों से सजा है। हाथ में एक डोलची है जिसमें वह फूल चुन चुनकर रख रही है। वह, जाने किस विचार में मग्न है, और उसी अन्य-मनस्क अवस्था में कोई गान गुनगुना रही है। वह निर्मलता, सुंदरता, वह पवित्र भाव, वह स्वर्गीय अस्फुट गान, सारे दृश्य में मिलकर क्या समा बाँध रहे हैं।" ('सुधांशु' से)

राय साहब की रचनाओं में "परोक्ष आलंबन के प्रति प्रेम भाव का जैसा पुनीत उत्कर्ष है, उसी के अनुरूप मनोरम रूप-विधान और सरस पद-विन्यास भी है।"

वियोगी हरि

इसी परोक्ष आलंबन का वैभव हम श्री वियोगी हरि की भी रचनाओं में पाते हैं। पर इस वैभव की प्रकाशन-प्रणाली में अवश्य अंतर है। और यह अंतर साधारण नहीं है। जिन विशेषताओं का विवेचन हम राय साहब की भाषा-शैली में कर चुके हैं उनको इनकी रचना में कहीं नहीं पाते। न वह कथन की सरल

तथा व्यावहारिक विशदता है और न गूढ़ातिगूढ़ भावना का प्रकाश-चित्र ही प्राप्त होता है। इन दोनों लेखकों की भाषा-शैली में आकाश-पाताल का अंतर है। राय साहब भली भाँति समझते हैं कि यदि हृदय की मार्मिक ग्रंथियों को सीधे सीधे न सुलझाया जायगा तो वे कदापि स्पष्ट न हो सकेंगी। उनके लिये दुरूह संस्कृत तत्समता आवश्यक नहीं। जिस समय हृदय में सरस—अथवा किसी प्रकार की—भावनाओं का उद्रेक होता है उस समय मस्तिष्क को इतना अवकाश नहीं रह जाता कि छाँट छाँटकर अथवा गढ़ गढ़कर लंबी-चौड़ी समासांत पदावली का निर्माण कर सके। उस समय भावावेश का व्यावहारिक प्रकाशन ही स्वाभाविक एवं समीचीन है। यदि भाषा की संस्कृति अथवा लच्छेदार पदावली की छान-बीन के फेर में लेखक पड़ता है तो केवल लड़ी ही न विखर जायगी प्रत्युत कृत्रिमता का आभास दिखाई पड़ने लगेगा।

पर जिसे गद्य-काव्य की पांडित्य-पूर्ण उद्भावना ही अभिप्रेत है उसे इन बातों से कोई प्रयोजन नहीं। हृदय की भावनाओं की बाह्य जगत् में वस्तुतः सम्यक् स्पष्ट व्यंजना हो, इस बात की उसे विशेष चिंता नहीं। मानव-हृदय में अपने भावावेश की मधुर अनुभूतियों का प्रकाश डालना भी उसे विशेष प्रयोजनीय नहीं ज्ञात होता। वह भाषा की उत्कृष्टता के लिये भाव-व्यंजना को बलिदान चढ़ा सकता है। वह अपनी भावनाओं का बड़ा ही सुंदर शरीर उपस्थित करता है। उसके लिये यही सब कुछ है। उस शरीर में आत्मा है कि नहीं, वह कुछ बोलता है कि नहीं अथवा उसमें चेतनता का प्रकाश

है कि नहीं इसकी समीक्षा करने वह नहीं बैठता। हमें वियोगीजी की रचनाओं में इसी भ्रांत प्रवृत्ति का परिपुष्ट प्रमाण मिलता है। उनकी अधिकांश भाव-व्यंजना दुरूह संस्कृत तत्समता लिए हुए समासांत पदावली में हुई है। कहीं कहीं तो उनकी शैली बाण की कादंबरी से टक्कर लेने लगी है। जैसे :—

"जब मैं अति विशद निर्जन अरण्य में कलरव-कल-कलित सुललित झरनों का सुगति-विन्यास देखता हूँ, मंद स्रोतस्वती-सरित-तट-तरु-शाखा-विहरित-कलकंठी-कोकिल-कुहुक-ध्वनि सुनता हूँ, प्रभात-ओस-कण-झलकित-हरित-तृणाच्छादित-प्रकृति-परिष्कृत-बहु-वनस्पति-सुगंधित-सुखद-भूमि पर लेटता हूँ, तथा नाना-विहंग-पूर्ण-सुफलित-वृक्षावृत-गिरि-सुवर्ण-शृंग-शुभ्र-स्फटिकोपम- शिलासन पर बैठकर प्रकृति-छटा-दर्शनोन्मत्त-अर्धोन्मीलित-साश्रु-नयन द्वारा अस्तप्राय तप्त-कांचन-वर्ण रवि-मंडल-भव-कमनीय-कांति की ओर निहारता हूँ, तब स्वभाव-सुंदर लज्जावनत अप्रकट-सुमन-सौरभ-रसिक-पवन आकर, श्रवण-पुट द्वारा तेरा विरहोत्कंठित प्रिय संदेश सुना जाता है।

"प्यारे, तू नित्य ही मेरे द्वार पर सघन-घन-तमाच्छन्न-कृष्ण-वसन-लसित-निशि-समय सुजन-मन-मोहिनी रसिक-रस-सोहिनी वेणु बजाता है; माधवी-मल्लिका-मकरंद-लोलुप-मलिंद-गुंजार-समुल्लसित, नवरस-पूरित, सुप्रेम-प्रतिभा-समुदित-कवि-हृदय द्वारा स्वच्छंद-आनंद-कंद-संदेश भेजता है, और कभी कभी विरह-दग्ध-उर-निस्सरित-प्रेमाश्रु-वर्षण या संयोग-गत-प्रगाढ़ालिंगन-रोम-हर्षण में अपनी सुप्रीति-मय झलक दिखा जाता है।" ('तरंगिणी' से)

वियोगीजी के संदेश की यह व्यंजना है। संभव है परमात्मा घट-घट-व्यापी होने के कारण इसे समझ ले और शीघ्र ही इसमें अन्तर्निहित भावावेश की नस पकड़ ले परंतु

साधारण जन इसकी मार्मिकता का परिचय विना सचेष्ट कष्ट उठाए नहीं पा सकता। वेचारा वाग्जाल के झाड़ी-झंखाड़ में ही अटका रह जायगा। उसके हृदय में स्थित पुष्प-पराग का आनंद-लाभ कदापि न कर सकेगा और लेखक के साधारण प्रमाद से उसकी मनोहर अनुभूतियों का सम्यक् अनुशीलन भी न कर सकेगा। वह गद्य-काव्य का रूप अवश्य देख लेगा परंतु उसमें चित् का अंश भी है यह उसकी आशा का केवल अनुमान भर होगा। इस प्रकार की भाषा-शैली वस्तुतः अव्यावहारिक एवं भावनाओं की बोधगम्य व्यंजना में सर्वथा असमर्थ ही होती है। ललित पदावली होते हुए भी प्रसादगुण का ह्रास दिखाई पड़ता है। मधुरता भी रहती अवश्य है परंतु भावावेश की अनुभूति स्पष्ट न होने से वास्तविक भाव-व्यंजना का बोध नहीं होता।

इस संस्कृत शैली के अनुशीलन के कारण स्वभावतः भाषा स्थान स्थान पर सानुप्रासिक दिखाई पड़ती है। यह अनुप्रास कृत्रिम नहीं वरन् प्रकरण-प्राप्त और अर्थ-व्यंजक होता है। "अपनी लाड़िली लली की एक लीला और सुन लो। किसी तरह मैंने अपना मन-मानिक मानसी मंजूषा में बंद करके रख छोड़ा है।" "आपका सहज स्नेह तथा सरल स्वभाव मेरे हर्ष-हीन हृदय के जिस कठोर कोण में विराजित हुआ, वहाँ से अकथनीय आह्लाद के सुभग स्रोत बहने लगे। आपके स्तन्य-दान से पुष्टि और तुष्टि की चरम सीमा का पूर्णानुभव हो गया। कर-कमल की छाया से मायामय आवरण हटाकर आज नितांत-निर्भयता-निरत निद्रा में जीवन-जागृति ज्योतिर्मयी कर रहा हूँ।" इस प्रकार के अनुप्रासों से यह स्पष्ट दिखाई

पड़ता है कि उनके आगमन के लिये लेखक को कष्ट नहीं उठाना पड़ा है। वे स्वाभाविक हैं अतएव सुंदर हैं।

नाटककार कथोपकथन में स्वाभाविकता उत्पन्न करने के लिये स्थान स्थान पर वाक्य-रचना में कुछ उलट-पुलट कर दिया करते हैं। व्यावहारिकता के विचार से भी यह आवश्यक है। आवेशपूर्ण भाषा-शैली में इसका बड़ा प्रभाव पाया जाता है। इस प्रकार के उलट-फेर से आवेशपूर्ण कथोपकथन में बड़ी उग्रता उत्पन्न हो जाती है। वियोगीजी ने भी इसका उपयोग किया है। वाक्यों का यह उलट-फेर उस समय और भी अच्छा ज्ञात होता है जब लगातार कई वाक्यों में इसका प्रयोग होता है। यदि भिन्न भिन्न स्थानों पर एकाध वाक्य इस प्रकार के लिखे गए तो वे उतने सुंदर और मधुर न लगकर अस्वाभाविक एवं अप्रयोजनीय जान पड़ते हैं। इस प्रकार के प्रयोग से कोई चमत्कार-विशेष नहीं प्रकट होता। "परसों गुरुदेव ने जो कहा था," "हैं! भला देखो तो!!" "पर हैं यह सब आपके मनमोदक।" "स्वप्न-पटल पर अंकित सा दिखाई देता है आज तुम्हारा उपदेश!", "पिला दो प्यारे! इन्हें अपने दर्शन का दो घूँट पानी!", "उड़ेल दो प्यारे! थोड़ा सा सौंदर्य-मधु इन उन्मत्त मधुकरियों को।" यदि कहीं कहीं इस प्रकार के प्रयोग दिखाई पड़ते हैं तो वे प्रभाव-रहित और व्यर्थ ज्ञात होते हैं। परन्तु हाँ! जहाँ एक ही लगाव में कई वाक्यों में इस प्रकार का वाक्य-व्यतिक्रम रहता है वहाँ कुछ स्वाभाविकता और प्रभाव रहता है। पर ऐसे स्थल न्यूनातिन्यून हैं। जैसे—"कैसा होगा वह वीणा पर हाथ रखनेवाला,

कैसी होगी उसकी गति-माधुरी, कैसी होगी उसकी सरल-मंद-मुसकान !"

इन्होंने 'आखिर', 'क़ैद', 'दर्द', 'सफ़', 'ख़ुदी', 'चीज़', 'तरफ़', 'ज़हरीला', 'ख़ैर', 'आवाज़', 'बाज़ो', 'आफ़त' इत्यादि अनेक उर्दू के तत्सम शब्दों का प्रयोग इधर-उधर किया है। यह विशेष बुरा नहीं है। परंतु जहाँ संस्कृत की घोर तत्समता के बीच उर्दू का एक तत्सम शब्द आ पड़ा है वहाँ वह 'हंसमध्ये बको यथा' बड़ा अस्वाभाविक ज्ञात होता है। संभव है, इस प्रकार के प्रयोग में लेखक का सिद्धांत अथवा चाव विशेष हो, परंतु भाषा-सौष्ठव के विचार से न तो इसमें कोई चमत्कार ही प्रकट होता है और न स्वाभाविकता ही दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिये दो-चार अवतरण ही पर्याप्त होंगे। "आज के दिन मेरी विचार-तरंग-माला सांसारिक परिस्थिति रूपी तूफ़ान से चंचल होने लगी है, मेरी स्वतंत्रता शनैः शनैः स्वार्थियों की कृतघ्नता-रूपी काल-कोठरी में छिपती जा रही है।" यहाँ क्या अच्छा होता यदि तूफ़ान धीरे धीरे आ जाता। उसका शनैः शनैः आना कितना अस्वाभाविक और अव्यवहार्य है। "वही हिमशिखर अकस्मात् अनलज्वालाएँ उगल उठा! जेठ मास के रेगिस्तानी तूफ़ान ने हिम-शिलाएँ थरथरा डालीं।" "मेरे उद्यान में पक्षियों का कलरव ख़ूब भर रहा था।" "उनकी अर्धोन्मीलित आँखें रणांगण में बंद हुई थीं।" "कृत्रिम सभ्यता-रमणी के ग़ुलाम हो रहे हैं।" "तुम्हारे पाद-पद्म-समीपेषु रहते हुए भी इस क़ुंद ज़हन ने सनातन समाज व्यापी स्वार्थ-वाद का यथेष्ट अध्ययन नहीं किया।" "उसके आधार में न

तो विशुद्ध सत्य ही रहता है और न निष्कपट सौजन्य और सौहार्द ही। ऐसे यांत्रिक फ़ैसले को महत्व ही क्या दिया जा सकता है।" इत्यादि।

पर जब इसी उर्दू शब्दावली का व्यवहार कुछ वाक्यों में होता है तो उसमें स्वाभाविक सरलता आ जाती है। इस सरलता के अतिरिक्त उसमें चमत्कार भी प्राप्त होता है। जैसे—"उसका दीदार तेरी तीन कौड़ी दुनिया का काया पलट कर देगा। साथ ही तेरी दुरंगी नज़र भी बदल जायगी। उस नज़ारे के आगे तुझे 'मुक्ति' फीकी और बदरंग जँचेगी।" "यवनिका के चित्र फीके पड़ गए, श्मशान की भीषण ज्वाला जल उठी और कफ़न में लिपटे हुए हज़ारों मुर्दे नेपथ्य में जमा हो गए।" "दिल की सफ़ाई करके दुनिया का कूड़ा-करकट साफ़ कर। ख़ुदी को खोकर वेखुदी में मस्त हो। आँख पर से एक तरफ़ी चश्मा हटाकर यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर।" इत्यादि। इसके अतिरिक्त जहाँ 'भठियारिन', 'सवार', 'अनाथालय' ऐसे साधारण विषय आए हैं वहाँ इनकी भाषा-शैली भी कुछ सरल तथा चलतापन लिए हुए है। परंतु उसमें शिथिलता आ गई है, इन स्थानों पर इनमें व्यावहारिकता तो अवश्य आई है। परंतु भाषा कुछ उखड़ी हुई है। जैसे—"देख, वाग मोड़ ले, इस मार्ग पर हो आगे न बढ़। इसके दोनों ओर खाई-खंदक हैं। तू तो उस तंग गली से जा। रास्ता टेढ़ा-मेढ़ा अवश्य है, कंकड़ीला भी है। काँटे भी बिछे मिलेंगे। पर डरना मत, साहस मत छोड़ना, चले ही जाना, बहादुर सवार! जब यह तेरा मस्त सैलानी घोड़ा हाँफने लगे; पसीने से तर हो जाय, अपनी सारी कूद-फाँद भूल जाय, तब उतर

पड़ना। बस वहीं सफ़र पूरा समझना। तू अपना लक्ष्य-स्थान पा लेना। उसी स्थान पर तुझे स्थैर्य प्राप्त होगा। सुना है, उस स्थैर्य को स्थिति-प्रज्ञों ने 'ब्राह्मी स्थिति' का नाम दिया है।" इस अवतरण के एक एक वाक्य एक एक भाव-विशेष अलग लिए बैठे दिखाई पड़ते हैं।

जिन स्थलों पर इन्होंने अपनी अस्वाभाविक संस्कृत-तत्समता की दीर्घ समासांत पदावली का उपयोग नहीं किया है और न जहाँ वे केवल चलतेपन के विचार से उर्दू की ओर झुके, वहाँ इनकी भाषा विशुद्ध, स्पष्ट, व्यावहारिक एवं श्रुति-मधुर हुई है, और ये सब गुण स्वाभाविक रूप में उपस्थित हुए हैं। इनके लिये कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। वस्तुतः यही भाषा-शैली 'वियोगी' जी की है। इस शैली के अनुसरण में उन्होंने छोटे छोटे वाक्यों का प्रयोग किया है। उसमें भावावेश की परिमार्जित व्यंजना की है। इन स्थलों पर अन्य गुणों के साथ साथ धारा-प्रवाह का बड़ा ही स्वाभाविक निर्वाह बन पड़ा है। जैसे:—

"उस रमणीय संध्या को चबूतरे पर निरुद्देश सा बैठा हुआ मैं सामने के उच्च शिखरों की ओर टक लगाए देख रहा था। स्वच्छ चाँदनी से निखरे हुए हिमाच्छादित श्वेत शिखर ऐरावत के दाँतों से होड़ लगा रहे थे। बैठा बैठा मैं, न जाने किस उधेड़-बुन में लग गया। मेरी विचारशक्ति प्रतिक्षण क्षीण होती जाती थी। ऐसा प्रतीत होता था, मानों मैं किसी गहरे अन्धकूप में डूबता जा रहा हूँ।

एकाएक किसी स्वर्गीय स्वर ने मेरी ध्यान-मुद्रा भंग कर दी। स्वर बाँसुरी का सा था। पीछे निश्चय भी हो गया कि कहीं से बाँसुरी की ध्वनि आ रही है। वह उल्लसित स्वर-लहरी उस प्रशांत

नभोमंडल में विद्युत् की भाँति दौड़ने लगी। हृदय लहरा उठा। शिखर मुसकराने लगे। चंद्रमा पुलकित हो गया। परिमल-वाही पवन प्रणय-संकेत करने लगा। दिग्वधुएँ घूँघुट हटा झाँकने लगीं। नाला भी निःस्तब्ध हो गया। पत्तियाँ थिरकने लगीं। मुग्धा प्रकृति के सलज्ज मुख पर एक अनुपम माधुरी-कलिका मुकुलित हो उठी। यह सब उसी मोहिनी-ध्वनि का प्रभाव था। तो फिर मैं नव सृष्टि-विधायिनी क्यों न कहूँ।"

राय कृष्णदास और श्री वियोगी हरि में हमने भावावेश का भिन्न भिन्न रूप देखा है। दोनों लेखकों की विषय-प्रतिपादन-प्रणाली में भी अंतर है। श्री चतुरसेन शास्त्री की रचनाओं में दोनों लेखकों की अपेक्षा भाषा का अधिक व्यावहारिक रूप दिखाई पड़ता है। अँगरेजी भाषा के सुंदर लेखक चार्ल्स लैंब में इस बात की विशेषता थी कि वह लिखते समय अपने पाठकों को अपना समझने लगता था। उसकी रचनाएँ आत्मीयता के भाव से इतनी परिपुष्ट एवं ओत-प्रोत रहती हैं कि उसकी शैली में चमत्कार विशेष के साथ व्यावहारिकता तथा सरलता का आकर्षक रूप मिलता है। वही बात हमें शास्त्रीजी की उन रचनाओं में प्राप्त होती है जिनमें उन्होंने अपनी हृदयस्थ भावनाओं के उथल-पुथल का मनोरम चित्र खींचा है। उनके पढ़ने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि लेखक अपनी व्यथाओं की रामकहानी इस प्रकार कह रहा है कि पाठक सुनकर तड़पें, रोएँ, गाएँ और हँसें। पाठकों को विश्वास हो जाता है कि उनका कोई अभिन्नहृदय मित्र अपना हृदय निकालकर उनके सम्मुख रख रहा है—और इस विचार से रख रहा है कि

चतुरसेन शास्त्री

विचार करें, देखें, सुनें और उसकी सांत्वना के लिये अपना हृदय आगे बढ़ाएँ। उनकी इस शैली में वैयक्तिकता की गहरी छाप लगी रहती है। जैसे:—

"मैं बड़ा प्यासा था। हारकर आ रहा था। शरीर और मन दोनों चुटीले हो रहे थे, कलेजा उबल रहा था और हृदय झुलस रहा था। मैं अपनी राह जा रहा था। मुझे आशा न थी कि बीच में कुछ मिलेगा। पर मिल गया। संयोग की बात देखो कैसी अद्भुत हुई। और समय होता तो मैं इधर नहीं देखता। मैं क्या भिखारी हूँ या नदीदा हूँ जो राह चलते रस्ते पड़ी वस्तु पर मन चलाऊँ। पर वह अवसर ही ऐसा था। प्यास तड़पा रही थी—गर्मी मार रही थी और अतृप्ति जला रही थी। मैंने कहा—ज़रा सा इनमें से मुझे मिलेगा। भूल गया कहा कहाँ ? कहने की नौबत ही न आई—कहने की इच्छा मात्र की थी। पर उसी से काम सिद्ध हो गया। उसने आँचल में छान प्याले में उड़ेला—एक डली मुसकान की मिश्री मिलाई और कहा—लो, फिर भूला, कहा-सुना कुछ नहीं। आँचल में छानकर प्याले में डालकर, मिश्री मिलाकर सामने धर दिया। चम्पे की कलियाँ उसी में पड़ी थीं—महक फूट रही थी। मैं ऐसी उदासीनता से किसी की वस्तु नहीं लेता हूँ—पर महक ने मार डाला। आत्म-सम्मान, सभ्यता, पद-मर्यादा सब भूल गया। कलेजा जल रहा था—जीभ ऐंठ रही थी। कौन विचार करता ? मैंने दो क़दम बढ़कर उसे उठाया और खड़े ही खड़े उसे पी गया—हाँ खड़े ही खड़े।

"वह फिर एक बार मिला। संध्या काल था और गंगा चुपचाप बह रही थी। वह चाँद सी रेती में फूल जमा जमाकर कुछ सजा रहा था। मैं कुछ दूर था। मैंने कहा आ मेरे पास आ। मैं गया। वहाँ की हवा सुगंधों से भर रही थी। मैं कुछ ठंडा सा

होने लगा। उसके चेहरे पर कुछ किरणें चमक रही थीं। मैंने कहा—"बिटुआ! धूप में ज्यादा मत खेलो।" उसने हँस दिया। सुंदरता लहरा उठी। उसने एक फूल दिखाकर कहा—"अच्छा इस फूल का क्या रंग है?" मेरा रक्त नाच उठा। अरे, बेटा बोलना सीख गया। मैंने लपककर फूल उसके हाथ से लेना चाहा—वह दूर दौड़ गया। उसने कहा—"ना इसे छूना नहीं। इस फूल को दुनिया की हवा नहीं लगी है और न इसकी गंध इसमें से बाहर को उड़ी है। ये देव-पूजा के फूल हैं—ये विलास की सजाई में काम न आवेंगे।" इतना कहकर बिटुआ गंगा की ओर दौड़कर उसी में खो गया। मैं कुछ दौड़ा तो—पर पानी से डर गया। इतने में आँखें खुल गईं।"

उपर्युक्त उद्धरण में भाषा-माधुर्य के साथ धारा-प्रवाह का बड़ा सुंदर सम्मेलन हुआ है। मधुरता के लिये लेखक शब्द तक बिगाड़ने को तैयार है। उसने शब्दों को तत्सम रूप में रखने का कोई विशेष प्रयोजन नहीं समझा है। चलतेपन के लिये वह सब कुछ करने को उद्यत है। हिंदी-उर्दू का मिला-जुला जो रूप हम श्री प्रेमचंद्र की रचनाओं में पाते हैं उसी का आनंद यहाँ भी मिलता है। लेखक इस प्रकार लिखने में सिद्धहस्तता प्राप्त कर चुका है। वहाँ उसका साम्राज्य है। चलती, सरल तथा बोधगम्य भाषा में भावों की लड़ी किस प्रकार पिरोनी चाहिए इस बात को शास्त्रीजी भली भाँति जानते हैं। जिस प्रकार भावावेश हृदय में उत्पन्न होता है उसी प्रकार, उसी स्वाभाविक रूप-रंग में उसे शब्दांतर्गत उपस्थित करने में, वाक्यों को इधर-उधर तोड़-ताड़कर तथा अनेक चिह्नों का सहारा लेकर वाक्य-विन्यास

करना पड़ता है। यही कारण है कि इनकी रचना में विरामादि चिह्नों की अधिकता रहती है।

शास्त्रीजी ने स्थान-स्थान पर विभक्तियों को छोड़ भी दिया है। यह उनका या तो सिद्धांत हो या प्रांतिकता का प्रभाव। जैसे—"मैं क्या भिखारी हूँ जो राह चलते रस्ते पड़ी वस्तु पर मन चलाऊँ।" "पराए सामने सदा संकोच से रहता था" इत्यादि। या तो 'रस्ते पड़ी वस्तु' के बीच में सम्मेलन-चिह्न रखा जाय अथवा 'रस्ते पर पड़ी हुई वस्तु' लिखा जाय और 'पराए' तथा 'सामने' के बीच में 'के' हो। ऐसा करने से भाषा का सौष्ठव नष्ट होता हो सो बात नहीं है। कहीं कहीं वाक्य-पूर्णता की आकांक्षा भी अप्रयोजनीय है। जैसे—"किसी को मुँह नहीं दिखाता हूँ, पर लज्जा फिर भी पीछा नहीं छोड़ती है। छिपकर रहता हूँ, पर मन में शांति नहीं है। दिन-रात भूलने की चेष्टा करता हूँ पर फिर भी स्मृति की गंभीर रेखा मिटती नहीं है।" इन वाक्यों में अंत का "है" व्यर्थ है। इससे भाषा में लचर-पन आ जाता है। उसका धारा-प्रवाह नष्ट हो जाता है। इन बातों के अतिरिक्त वाक्य-विन्यास में कहीं कहीं अँगरेजी-पन भी स्पष्ट पाया जाता है। "राई की प्राप्ति को पहाड़ परिश्रम करते हो" (To gain a little you work a mountain); इत्यादि। ऐसे स्थल प्रमाद-स्वरूप ही हों, ऐसी बात नहीं। परंतु इसके लिये लेखक को विशेष सतर्क रहने की आवश्यकता नहीं। ऐसी बातें स्वाभाविक होती हैं। इसके लिये विशेष नियंत्रण रखने से भाषा-शैली में कृत्रिमता उत्पन्न होने की संभावना रहती है।

इनकी प्राय: सभी रचनाओं में शब्दों के कुछ प्रांतीय रूप मिलते हैं। लेखक जिस स्थान विशेष का है उसी के आस-पास में शब्दों का जिस रूप में व्यवहार होता है, उसी को वह साहित्य में भी रखना चाहता है। वस्तुत: यह उचित नहीं, क्योंकि शब्दों का वही रूप साधारण भाषा में ग्राह्य होना समीचीन है जो अधिकांश भाग में प्रयुक्त हो। उन्होंने 'तिस पीछे' और 'सो' इत्यादि पंडिताऊपन के शब्दों और रूपों के सिवा कितने ऐसे शब्दों का भी व्यवहार किया है जो संभवत: उनके आस-पास के प्रदेशों में प्रचलित हैं। 'खुल्ला', 'भौंरे', 'टूटना', 'बुरक', 'भौंचे', 'धकेलना', 'जाये' (जाकर), 'भिड़-तितैया', "बेटा! कला को देखना तो आज वह कैसा कुछ करती है।" इत्यादि अनेक ऐसे शब्द हैं जिनका व्यवहार प्रदेश विशेष तक ही परिमित है। इसके अतिरिक्त शब्दों के प्रयोग में अस्थिरता नहीं होनी चाहिए, जैसा कि उन्होंने किया है। यदि 'पर्वा' लिखा जाय तो 'परवा' न लिखा जाय अथवा 'लच्छन' लिखा जाय तो 'लक्खन' न प्रयुक्त हो; क्योंकि इससे शब्दों का निश्चयात्मक रूप व्यवस्थित नहीं रह सकता।

वस्तु-प्रतिपादन की आलंकारिक प्रणाली में उन्होंने भी 'मानो', 'की तरह', 'जैसे', 'वैसे' का अधिक अनुसरण किया है। परंतु इनकी उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं में वह लोकातीत वैभव नहीं रहता जो 'प्रसाद' जी अथवा 'राय साहब' में मिल चुका है। इनकी रचना में जगत् की व्यावहारिक सत्ता का आभास सदैव विद्यमान रहता है। इनकी उत्प्रेक्षाएँ और उपमाएँ इतनी परिचित रहती हैं कि उनका दर्शन हम नित्य

की घटनाओं में पाते रहते हैं। वास्तव में रचना-प्रणाली की सरलता एवं व्यावहारिकता के साथ इसी प्रकार की उपमाओं का सामंजस्य अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। इससे भाषा की स्वाभाविकता नष्ट नहीं होती। 'प्रसाद' जी अथवा 'राय साहब' में उनके विषय के अनुकूल ही अलंकार-विधान भी रहता है। उनका क्षेत्र कल्पना का है। परंतु शास्त्रीजी व्यवहार-जगत् के हैं। अतः समानता का प्रतिरूप उपस्थित करने में उनकी दृष्टि उन्हीं वस्तुओं पर पड़ती है जो वस्तुतः हमारे साधारण जीवन में प्राप्य हैं। जैसे—"मानो तंग कोठरी की क़ैद से निकलकर स्वच्छ हरे-भरे मैदान में आ गया हूँ।" "जैसे लहर लीन हो जाती है, जैसे स्वर लीन हो जाता है।" "जैसे सूर्य पृथ्वी के रस को आकर्षण करके संसार पर वर्षा करता है, वैसे ही धन, धर्म, धान्य, जन सबको आकर्षण करूँगा और पुनः विसर्जन करूँगा।" "इस तरह मरे बैल की तरह क्यों आँख निकालता है?" "तबला दुख से मानो हाय! हाय! कर उठा।" "प्रवीण को ऐसा मालूम हुआ कि जैसे वह सब आँखें फाड़ फाड़कर उसी की तरफ़ झाँक रहे हैं।" "वह मशीन की तरह माता का सिर गोद में रखकर बैठे रहे।" "देखते ही देखते वह मुर्दे की तरह सफ़ेद हो गया।" "मर्माहत सर्पिणी की तरह", "युद्ध में हारे राजा की तरह", "पनाले की तरह बह निकला", 'जिस तरह' और 'उसी प्रकार' का प्रयोग उन स्थानों पर अस्वाभाविक दिखाई पड़ता है जहाँ पर ग्रीक कवि होमर की भाँति उपमाएँ आई हों। वाक्य के अंत तक पहुँचते पहुँचते प्रस्तुत विचार-शृंखला टूट जाती है। जैसे—"जिस तरह इंद्रियों

के पास जिह्वालोलुप जन नाना प्रकार के मिर्च-मसाले आदि अप्राकृत पदार्थ खाकर और तरह तरह के मिथ्या आहार-विहार करके अनेक जाति के रोगोन्मूलक परमाणुओं को शरीर में बसाकर रोगी हो जाते हैं और जुलाब देकर जिस प्रकार उनके शरीर से समस्त दूषित पदार्थ निकाले जाकर शरीर शुद्ध और निर्मल किया जाता है, ठीक उसी प्रकार मनुष्य-समाज ईर्ष्या, द्वेष, अज्ञान और स्वार्थवश जब अनेक बुराइयों से परिपूर्ण हो जाता है, तब क्रांति का जुलाब देकर उसे विशुद्ध और सरल बनाकर फिर नए सिर से व्यवहार जारी किया जाता है।" इसके अतिरिक्त स्थान स्थान पर नाटकीय कथोपकथन की स्वाभाविकता उपस्थित करने के विचार से इन्होंने वाक्य-विन्यास में भी उलट-फेर किया है। इससे कथानक का विवरण देने में स्वाभाविकता पाई जाती है। कथोपकथन की स्वाभाविकता के अतिरिक्त उसमें बल-विशेष लाने का विचार भी रखा गया है। जैसे—"आने दो भविष्य के धवल महल को", "यह दस्तावेज है हमारी गदा", "तुम क्या जाग्रत रहते हो इस वसंत में", "गया कहाँ है वह बदमाश, लंपट?" "वह मैंने तुम्हें सँभाल दी थी—जैसे चिड़िया अपने बच्चे को वृक्ष के खोंखले में रखती है।" "किस लोक की तरफ़ तुम्हारा लक्ष्य है?" इत्यादि। इस प्रकार का वाक्य-विन्यास का परिवर्तन कथोपकथन में बड़ा ही उपयुक्त एवं रुचिकर जँचता है।

शास्त्रीजी की प्रायः सभी रचनाओं में धारावाहिकता का प्रसार अच्छा मिलता है। उनका प्रत्येक वाक्य एक दूसरे से इस प्रकार संबद्ध रहता है कि किसी को पृथक् करने से भाव-शृंखला छिन्न-भिन्न हो जाती है। कहीं कहीं एक ही बात भिन्न

भिन्न कई वाक्यों में इस प्रकार लिखी जाती है कि एक विशेष प्रकार का ओज उत्पन्न हो जाता है। उसके पढ़ने-सुनने में बड़ा बल ज्ञात होता है। जैसे—"पर मान, सम्मान और गौरव देकर क्या पाया।" "वे अमर हैं, प्रबल हैं और अमोघ हैं।" "जो तेजस्वी हैं, जो मानधनी हैं, वे अपने झोपड़े में अपनी ही चटाई पर सुख से सो सकते हैं।" "राजा को देखकर हज़ारों सेनाएँ अपनी बंदूकें नीची कर लेती हैं, हज़ारों सशस्त्र सिपाही सिर झुकाकर भेड़े की तरह अपने सेना-नायक की आज्ञा पालते हैं। असंख्य प्रजा राजा को देखकर सिर झुका लेती है।" "कैसी घृणा, कैसी लज्जा, कैसी ग्लानि और कितनी कमीनी बात है।" इत्यादि। इसके अतिरिक्त एक प्रधान विशेषता यह है कि इनकी रचनाओं में वक्तृत्व अधिक पाया जाता है। इससे विषय-प्रतिपादन में अपूर्व चमत्कार आ जाता है और बल बढ़ता है, कांति और सुष्ठुता दिखाई पड़ती है। बलवती भाषा में और छोटे छोटे वाक्यों में किस प्रकार विषय का प्रभावात्मक निदर्शन एवं विधान होता है यह निम्नांकित अव-तरणों से स्पष्ट हो जायगा।

"बड़ा सुख है, अब रात-दिन चाहे जब रो लेता हूँ। कोई सुनने-वाला नहीं, देखनेवाला भी नहीं। सन्नाटे की रात में नितांत दूर टिमटिमाते तारों के नीचे, स्तब्ध खड़े काले काले वृक्षों के नीचे घूम घूम-कर मैं रात भर रोता हूँ। यह मेरा अत्यंत सुखकर कार्य है। इसमें मेरा बड़ा मन लगता है। और इस पवित्र रुदन के लिये स्थान उपयुक्त भी है। निकट ही गीदड़ रो रहे हैं। कुत्ते भी कभी कभी रो पड़ते हैं। घुग्घू बीच बीच में रोने का प्रयत्न करता है। परंतु मेरे रोने का स्वर तो कुछ और ही है, वह अंतस्तल की प्राचीन भित्ति

को विदीर्ण करके एक नीरव लहर उत्पन्न करता हुआ नीरव लय में लीन हो जाता है। उसे देखने की सामर्थ्य किसमें है। नींद अब नहीं आती। दो महीने रात-दिन रोता रहा हूँ। अब नींद से हिसाब साफ़ है। हाँ, चटाई पर औंधा पड़ जाता हूँ और आँख बंद कर चुप-चाप सुनने की चेष्टा करता हूँ। तब रात्रि के गंभीर अंधकार को विदीर्ण कर एक अस्फुट ध्वनि सुनाई पड़ती है। और मैं विवश होकर उसमें स्वर मिलाकर विहाग या मालकोश की रागिनी में रुदन गान करने लगता हूँ। आँसुओं के प्रवाह में रात्रि भी गलने लगती है। तब हठात् वह उसी विमल परिधान में आती है और पहले जैसे वह बलपूर्वक मेरे कागज-पत्र उठाकर मुझे सोने पर विवश करती थी, उसी तरह मेरे उस संगीत को उठाकर रख देती है। पर हाय! अब मैं सो नहीं सकता। आँख फाड़कर देखता हूँ तो अकेला रह जाता हूँ। मैं शेष रात्रि इस वृक्ष से उस वृक्ष के नीचे घूम घूमकर काट देता हूँ।''

''साहित्य की मूल भित्ति है हृदय और उसके निकास के प्रपात का स्थल है मस्तिष्क। हृदय में आंदोलन उत्पन्न करके मस्तिष्क की सूक्ष्म विचार-धाराओं का संचालन करना साहित्य का कार्य है। यही तो मानव जीवन का उत्कर्ष है—पशु और मनुष्य में यही तो अंतर है। पशु साधारण शरीर की आवश्यकताओं का अनुभव करके जीवन की सभी चेष्टा करता है। परंतु मनुष्य मस्तिष्क की विचार-धाराओं से आंदोलित होकर जीवन की उन प्रक्रियाओं को भी करता है, जिनसे वास्तव में उनकी शरीर-संपत्ति का कोई वास्ता ही नहीं है। इसलिये किसी भी जाति या समाज का साहित्य देखकर हम स्थूलता से इस बात का अनुमान लगा सकते हैं कि वास्तव में वह जाति मनुष्यत्व की कसौटी है। और केवल कसौटी ही नहीं, वह जाति के उत्थान और पतन का एक प्रबल कारण भी है। साहित्य जातियों को वीर बनाता

है, साहित्य ही जातियों को क्रूर, नीच, कमीना, पापी, पतित बनाता है। इसलिये प्रत्येक जाति के विद्वानों के ऊपर इस बात का नैतिक भार है कि अपने साहित्य पर कठोर नियंत्रण कायम रक्खें, उसे जीवन से भी उच्च, पवित्र एवं आदर्श बनाए रक्खें।"

भाषा एवं भावों की अभिव्यंजना-शैली पर देशव्यापी आंदोलन का प्रभाव विशेष रूप से पड़ता है। राजनीतिक उथल-पुथल में अनेक प्रकार के आचार-विचार का समावेश रहता है। किसी भी आंदोलन में भावनाओं की उधेड़-बुन, निदर्शन और नवीन विचारों की आलोचना एवं प्रतिपादन होता है। इन आंदोलनों की जैसी प्रगति होती है, उसमें अंतर्निहित जैसी विचार-धारा रहती है, उसी के अनुरूप 'प्रचार की' भाषा भी आवश्यक होती है। हम इसके पूर्व ही देख चुके हैं कि आर्य-समाज के प्रचार का प्रभाव हमारी हिंदी भाषा पर कितना पड़ा है। वह प्रभाव अच्छा था या बुरा इसका विवेचन इस स्थल पर प्रयोजनीय नहीं। उस समय वाद-विवाद, तथ्यातथ्य-निरूपण, तथा वितंडावाद ही प्रधान था। यही कारण था कि उस समय की प्रचलित शैली में इसका प्रभाव स्पष्ट पाया जाता है। इसके अतिरिक्त कथन की युक्तिपूर्ण प्रणाली—जिसमें तर्क की विशेष मात्रा मिश्रित रहती थी—साधारणतः उस समय के सभी लेखकों में प्राप्त होती है।

शिवपूजन सहाय

आर्य-समाज के आंदोलन से भी कहीं विशद एवं देश-व्यापी आंदोलन उपस्थित हुआ असहयोग का। उसमें दोनों का आर्तनाद मिश्रित था; पीड़ितों की हाय, अन्न-वस्त्र से दुखी देश-वासियों की तड़प, दासता की बेड़ियों से मुक्ति चाहने-

वालों का गगनभेदी चीत्कार दूर दूर तक प्रतिध्वनित हुआ। आंदोलन को व्यापक बनाने के विचार से सभाएँ और वक्तृताएँ होने लगीं। समाज में आवेश आया। बहुत सी रूढ़िगत भावनाओं का निराकरण प्रारंभ हुआ; और समाज में नवीन ज्योति, उत्साह और बल उपस्थित हुआ। अपने कथन को प्रभावशाली बनाने के विचार से कठोर से कठोर तथा उग्र से उग्र शब्दों का प्रयोग भाषा में बढ़ने लगा। वस्तु-प्रतिपादन की शैली में, कथोपकथन में, वाद-विवाद में तथा विवरण उपस्थित करने में सर्वत्र ही उग्रता और निर्भीकता का भयंकर तांडव-नृत्य प्रारंभ हो गया। साधारण से साधारण विषय भी बड़े जोर-शोर के साथ लिखे जाने लगे। भाषा-शैली साधारणतः वक्तृत्व से ओतप्रोत हो गई। इस वक्तृत्व का शीघ्र ही इतना प्रसार हुआ कि साधारण लेखों में, कथा-कहानियों में, नाटक और आलोचना में—सभी स्थानों में—इसकी छाप बैठ गई। इस शैली-विशेष के प्रतिनिधि-स्वरूप बाबू शिवपूजन सहाय और पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' लिए जा सकते हैं।

इनमें से बाबू शिवपूजन सहाय की भाषा में विशुद्धता का विचार अधिक पाया जाता है। स्थान स्थान पर उर्दू शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। इस प्रकार की शब्दावली अधिकतर मुहावरों की लपेट में आ गई है। अथवा उन स्थानों पर भी इनका प्रयोग पाया जाता है जहाँ लेखक का चलतापन लाने का विचार रहा है। इसके अतिरिक्त अन्य स्थानों पर अधिकांश व्यापक विशुद्धता का ही निर्वहन पाया जाता है। इन स्थलों पर विशुद्धता के अतिरिक्त भाषा-सौष्ठव बड़ा सुंदर बन पड़ा है। उसमें माधुर्य एवं ओज का अपूर्व सम्मेलन

स्थापित दिखाई पड़ता है। प्रांतीयता का प्रभाव इनकी भाषा-शैली में तनिक भी न मिलेगा। साधारणतः शैली परिष्कृत, सतर्क तथा परिमार्जित है। उनमें विषय के अनु-कूल भाषा का उपयोग करने की अच्छी कुशलता है। यही कारण है कि इनकी रचनाओं में चमत्कार के साथ साथ आक-र्षण और प्रभाव रहता है।

भाषा की उत्कृष्टता के साथ साथ आलंकारिकता का अच्छा सम्मिश्रण मिलता है। 'ऐसे', 'जैसे' और 'सी', 'मानो' का मनोरम उपयोग दिखाई पड़ता है। इनका प्रयोग कहीं कहीं तो इतना चमत्कारपूर्ण हुआ है कि रचना से काव्यात्मक ध्वनि निकलती जान पड़ती है। सादृश्य-विधान भी अधिकांश इस उद्देश से किए गए नहीं जान पड़ते कि उनके द्वारा काल्पनिक वैभव व्यक्त हो वरन् इसलिये कि साधारण नित्य के अनुभव से संबंध रखनेवाली बातों के मेल से अनुभूति तीव्र और स्पष्ट हो। यही कारण है कि 'सी' और 'मानो' के उपरांत इतनी सरल उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ इनकी रचनाओं में प्राप्त होती हैं कि उनके हृदयंगम करने में पांडित्य तथा विशिष्टता की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसी अलंकार-प्रवृत्ति ने इनकी रचना-शैली में अनुप्रासों की प्रचुरता उपस्थित की है। परंतु अनुप्रास के प्रयोग में बनावटीपन नहीं झलकता वरन् प्रवाहगत स्वाभाविकता पाई जाती है। इससे भाषा में सौंदर्य एवं माधुर्य आ गया है। यह अनुप्रासयुक्त भाषा किसी समय या स्थल-विशेष पर मिलती हो ऐसी बात नहीं है। यह व्यापक रूप में एक सी प्राप्त होती है। जैसे—"खिड़की से छन छनकर आनेवाली चाँद

की चटकीली चाँदनी में चूड़ावत-चकोर को आपे से वाहर कर दिया।......नए प्रेम-पाश का प्रवल वंधन प्रतिज्ञा-पालन का पुराना वंधन ढीला कर रहा है। चूड़ावतजी का चित्त चंचल हो उठा। वे चटपट चंद्रभवन की ओर चल पड़े। वे यद्यपि चिंता में चूर हैं, पर चंद्रदर्शन की चोखी चाट लग रही है। वे संगमर्मरी सीढ़ियों के सहारे चंद्रभवन पर चढ़ चुके, पर जीभ का जकड़ जाना जी को जला रहा है।" "लड़ाई की ललकार सुनकर लँगड़े-लूलों को भी लड़ने-भिड़ने की लालसा लग जाती है", "उज्ज्वल धारा से धोए हुए आकाश में चुभनेवाले कलश, महलों के मुँडेरों पर मुसकुरा रहे हैं।" "वंदीवृंद विशद विरुदावली वखानने में व्यस्त हैं।" "शूर सामंतों की सैकड़ों सजीली सेनाएँ साथ में हैं सही।" "नव-पल्लव-पुष्प-गुच्छों से हरे-भरे कुंज-पुंजों में वसंत-वसीठी मीठी मीठी वोलती और विरह में विष घोलती थी। मधुर-मधुमयी माधवी लता पर मँडराते हुए मकरंद-मत्त-मधुकर, उस चराचर मात्र में नूतन शक्ति संचालन करनेवाले—जगदाधार का गुन गुनकर गुण गाते थे। लोनी लतिकाएँ सूखे सूखे वृक्षों से भी लिपट रही थीं। वसंत-वैभव ने उस वन को विभूतिशाली वना दिया था।" इत्यादि। इस प्रकार के अवतरण उद्योग के साथ उपस्थित किए जा सकें यह नहीं है। सर्वत्र ही इस प्रकार की अनुप्रास-पूर्ण भाषा मिलेगी।

इस सानुप्रासिकता तथा विशुद्धता के व्यवहार का जो परिणाम होता है वह भी इनमें विशेष मिलता है। दीर्घ समासांत पदावली व्यापक रूप में दिखाई पड़ती है। अपने स्थान पर यह अनुचित नहीं प्रतीत होती क्योंकि रचना-प्रणाली

के साथ इनका अच्छा साम्य ठहरता है। 'सौंदर्य-गरिमा-मय-मुखारविंद', 'मल्लिका-वल्लरी-वितानों', 'अलि-अवलि-केलि-लीला', 'मंजुल-मंजरी-कलित' तरुवर की शाखाओं पर शान से तान का तीर मारनेवाली काली-कलूटी कोयल, पल्लवावगुंठन में मुँह छिपाए बैठी हुई, इस अनुरूपा सुंदरी को देख रही थी। शीतल-सुरभित-समीर विलुलित-अलकावली तीर डोल डोलकर रस घोल जाता था। चंचल पवन अंचल पर लोट लोटकर अपनी विकलता बताता था। धीरे धीरे कुंचित कुंतलराशि, नितंबावरोहण करती हुई, आपाद लटक रही थी। यद्यपि निराभरण शरीर पर केवल एक वस्त्र ही शेष था, तथापि वह शैवाल-जाल-जटित सुंदर सरोजिनी सी सोहती और मन मोहती थी।"

इसी उत्कृष्ट विशुद्ध एवं समासांत पदावली में जब काल्पनिक वैभव का सम्मिश्रण हो जाता है तब शैली में एक अटूट धारा बह चलती है। कहीं कहीं इस प्रकार के आलंकारिक उल्लास से मन ऊब जाता है और वाक्य के अंत तक पहुँचते पहुँचते भाव-शृंखला छिन्न-भिन्न हो जाती है। वस्तुतः इस प्रकार की रचनाएँ पढ़ते समय अधिक निग्रह और चिंतन के कारण कष्ट का अनुभव होने लगता है। जैसे:—

"वह अप्रतिमा प्रतिमा, वसंत काल की नव किसलय कलित रसाल द्रुमावली सी वह प्रतिमा, प्रभातकालीन मलय-मारुत से ईषत् दोलायमाना मंद स्मित नवनलिनी की सी वह प्रतिमा, वासंती संध्या-समीरण-जनित गंगा की कृश कल्लोल-मालिका की सी वह प्रतिमा, जयदेव की कोमल कांत पदावली सी वह प्रतिमा, शोण-सैकत-शय्या पर लेटी हुई सद्य-उदित सूर्य की किरणों की सी वह प्रतिमा, श्रावण की जल-

प्लावित सस्य-श्यामला वसुंधरा की सी वह प्रतिमा, नवोढ़ा कृपक-ललना के करतल-विराजित नव-शालि-वालि-पुंज की सी वह प्रतिमा, अर्जुन के प्रति स्वर्गीय वारांगना उर्वशी की सी मधुर-कटाक्ष-पात-पूर्वक विनीताभ्यर्थना की सी वह प्रतिमा, मरुस्थल के श्रांत एवं तृपित पथिक के लिये सजला-सरसी-दर्शन की सी प्रतिमा, दुष्यंत के प्रति शकुंतला की निरंतर चारुचिंता सी वह प्रतिमा, कार्तिक मास की दीपावली से नख-शिख-मंडिता काशी की गंगा-तटस्थ आकाश-चुंबिनी प्रासाद-प्रणाली सी वह प्रतिमा, भाद्रपद के नीरव निशीथकाल में वर्षा-वारि-विलोड़िता खर-स्रोत-सरिता की दूरागत कल-कल ध्वनि की सी वह प्रतिमा, कुसुमित दांपत्य-प्रेम-पादप के प्रथम फल की आशा की सी वह प्रतिमा, पुष्पोद्यान में प्रथम वार रामचंद्र-दर्शन से मैथिली के मानस-मंदिर में प्रकट हुई अलौकिक प्रीति-ज्योति की सी वह प्रतिमा, लावण्य-लीला-विलासिनी नववधू के मित मिष्ट-भाषण की सी वह प्रतिमा।"

इस प्रकार आलंकारिक विशदता की इतनी लंबी लड़ी नहीं तो छोटी छोटी लड़ियाँ प्रायः मिलेंगी।

इनकी रचनाओं में कहीं कहीं पर पद्यात्मक तुकांत भी उपलब्ध होता है। यह तुकांत वस्तुतः उस प्रकार का नहीं होता जो हमें श्री लल्लूजीलाल और सैयद इंशा में प्राप्त हुआ था। उसमें प्राचीनता की छाप थी, परंतु इसमें भाषा की प्रगल्भता पाई जाती है। इसमें मनोरंजक चमत्कार दिखाया गया है। इस तुकांत का जहाँ परिमित रूप में व्यवहार हुआ है वहाँ पर स्वाभाविक और सुंदर लगता है। जैसे—'सतीत्व-रक्षा के लिये जरा-जर्जर जटायु ने अपनी जान तक गँवाई ज़रूर, लेकिन उसने जो कीर्ति कमाई और वधाई पाई, सो आज तक किसी कवि की कल्पना में नहीं समाई।' परंतु वही

तुकांत जब विस्तृत रूप में रखा जाता है तब अस्वाभाविक और भद्दा लगने लगता है। जैसे—"यह संसार असार है, ऐसा वेदांतियों का विचार है। उनके लिये ईश्वर भी निराकार है; किंतु हमारे साहित्य-संसार का ईश्वर साकार है। ज्ञानियों का संसार भाषा का बाज़ार है, हम साहित्यिकों का संसार अमृत का भांडार है। उनके लिये संसार कारागार है, हम लोगों के लिये करुणावतार का लीलागार है। उनके लिये शृंगार दुराचार है, हम लोगों के लिये वह गले का हार है—अलंकार है। उधर ओंकार का आधार है, इधर नंदकुमार का आधार है। बड़ा ही विचित्र व्यापार है।"

इधर भाषा-शैली के उत्कर्ष के साथ साथ विरामादिक चिह्नों का प्रयोग अधिक होने लगा है। इनका आधार लेकर भाँति भाँति की भावनाओं का, कई रूप से, निदर्शन होने लगा। अँगरेजी में The book, however, came to the Press लिखा जाता है। "हाँ, अब, जब कि यह पुस्तक, किसी न किसी रूप में—प्रकाशित हो गई, तब संभव है, कभी सौभाग्यवश विद्वानों की दृष्टि इस पर पड़ जाय।" इस वाक्य में भी "किसी न किसी रूप में" दो संबंधात्मक चिह्नों के बीच में उसी प्रकार रखा गया है, जिस प्रकार अँगरेजी का 'However' दो अर्ध-विरामों के बीच में रखा गया है। अब चिह्नों का सहारा लेकर भाव-व्यंजना बड़ी विशदता से होने लगी है। श्री शिवपूजन सहाय और श्री पांडेय बेचन शर्मा में इस प्रकार का व्यंजनात्मक विस्तार अधिक पाया जाता है। भावावेश की स्वाभाविक प्रगति के प्रदर्शन में इन चिह्नों ने बड़ा योग दिया है। इन्हीं चिह्नों के सहारे एक शब्द का प्रयोग कर ठीक

उसके उपरांत उसी भाव का दूसरा शब्द, दो संबंध चिह्नों के बीच में, रखकर पहला शब्द और भी अधिक प्रभावात्मक बनाया जाता है। वस्तुतः यह चिह्न 'और' का काम कर देता है। जैसे—"साहित्य-रसिकों के रसास्वादन—मनोरंजन—के लिये।" इसी भाँति कहीं कहीं गुणवाचक पदावली भी रखी जाती है। जैसे—"प्रार्थना-पत्र, ब्राह्मण-देवता ने, राणाजी की—भक्तिभाव-पूर्वक प्रणाम के हेतु जोड़ी गई—अंजली में, उनका कल्याण मनाते हुए छोड़ दिया।"

इन चिह्नों के सहारे एक ही प्रकार के कई भाव व्यक्त करने के लिये कई शब्दों अथवा पदों का यथाक्रम रखने का बड़ा रोचक एवं प्रभावात्मक ढंग प्रचलित हुआ है। इसमें बड़ी विशदता और शक्ति प्राप्त होती है। पूर्व-प्रचलित तार्किक शैली में इतनी उत्कृष्टता नहीं पाई जाती थी। इस शैली के द्वारा बड़े ही प्रबल रूप में उत्साह, बल, पौरुष आदि का दीर्घ प्रवाह व्यक्त हो सकता है। जैसे—"जिस मेवाड़ की मान-मर्यादा बचाने के लिये, हमारी माताओं ने, अपनी गोद के लाखों लाल लुटा दिए हैं, उसी मेवाड़ की गौरवान्वित गद्दी को सनाथ करनेवाला, राणा हमीर और राणा साँगा तथा हिंदू-कुल-सूर्य प्रताप का वंशधर, क्या राज्यनाश के भय से, जंगलों में भटकते फिरने की शंका से, शरण में आई हुई एक अबला को आत्मघात करने का अवसर देगा? यदि ऐसा होगा तो उसी दिन वीररक्ताभिषिक्त मेवाड़-भूमि रसातल में पैठ जायगी, सूर्य्य चक्कर खाकर डूब जायगा, भूमंडल भी—तूफ़ान से घिरे हुए जहाज़ की तरह—डगमगा उठेगा, तारे एक से एक टकराकर चूर्ण हो जायँगे, समुद्र अपनी मर्यादा छोड़कर

भूलोक को डुबो देगा, चाँद से चिनगारियाँ बरसने लगेंगी, और अरवली का हृदय, भीषण ज्वालामुखी के प्रस्फोट से, एकाएक फट पड़ेगा।" अथवा "यदि कृष्णा-कुमारी सी अविरल सुंदरी के लिये आठ आठ आँसू रोने की इच्छा हो, उसकी स्नेह-शीला माता के दारुण-करुण-विलाप-कलाप से कलेजा कँपाना हो, यदि कल्पद्रुम-कुसुम-माला-मंडिता स्वर्ग-प्रतिमा का अकाल विसर्जन होकर दिल दहलाना हो, तो आइए, किंतु उदयपुर के रनिवास में चलकर, एक हृदय-द्रावक दृश्य देखने के लिये पहले हृदय को वज्र से मढ़ लीजिए।" अथवा "उसका हृदय, तुम्हारे कुसुम-सुकुमार अंग से भी कोमल, तुम्हारी विलास-लीला से भी मधुर, तुम्हारी श्वास-वायु से भी सुगंधित और तुम्हारी दाड़िम-दंतावलि से भी उज्ज्वल था।"

यों तो इन्होंने स्थान स्थान पर इतिवृत्तात्मक विवरण देने में भी भाषा की विशुद्धता एवं समासांत पदावली का व्यवहार किया है, परंतु वहाँ वह स्वाभाविकता नहीं मिलती जो उनके उस विवरण में प्राप्त होती है। इसमें वस्तुतः सरल एवं व्यावहारिक प्रणाली का अवलंबन किया गया है। ऐसे स्थलों पर वाक्य भी छोटे छोटे लिखे गए हैं। सभी स्थानों पर इस सिद्धांत का निर्वाह हुआ हो यह आवश्यक नहीं। क्योंकि ऐसे भी स्थान अवश्य हैं जहाँ इन्होंने साधारण विवरण देने में भाषा का वही रूप रखा है जो कि प्रायः उनकी भावावेश की शैली में पाया जाता है। परंतु उन स्थानों में वह रोचकता तथा व्यावहारिकता नहीं मिलती जो उन विवरणों में अधिकता से प्राप्य है जिन्हें वे छोटे छोटे वाक्यों में और चलती भाषा के सहयोग से देते हैं। जैसे :—

"पंजाब मेल का अव्वल दर्जा भी स्वर्ग का नमूना ही है। जैसे गंगा और हिमालय का मानचित्र पुस्तकों में वैसे ही पंजाब मेल के अव्वल दर्जे में बहिश्त का नक्शा मौजूद है। उसे अलकापुरी या अमरावती का नमूना कहना कोई बेजा बात नहीं है। हीरालाल बाबू को अव्वल दर्जे में चढ़ाकर हमने इंजन से गार्ड के डब्बे तक दो दो बार चक्कर लगाया। हर एक खाने की चीज़ों पर दुहरी, पर गहरी नहीं, नज़र डालते हुए हम चक्कर काट रहे थे। बिजली-बत्तियाँ जल रही थीं। बिजली के पंखे दनादन चल रहे थे। खिड़कियों की राह जितनी आँखें स्टेशन की ओर झाँकती थीं, सब पर सुनहरी कमानीवाले चश्मे चढ़े थे। कुछ साहेब, झालरदार साफ़ तकियों के सहारे कमर के बल टेककर, समाचारपत्रों के पन्ने उलट रहे थे। किसी के दिमाग़ में 'एमडन' तैर रहा था। किसी के दिमाग़ में दमदम की गोलियाँ दनदना रही थीं और कोई 'हाविटज़र' तोप के गोलों की गड़गड़ाहट सुन रहा था। एक अँगरेज़ युवती, जिसके सुनहरे बालों में बनावटी गुलाब के फूल गुंफित थे, एक अँगरेज़ युवक के साथ, हाथ में हाथ मिलाकर, टहल रही थी। कभी दोनों हँसते हँसते अपनी अपनी घड़ियाँ मिलाते थे; और कभी अपने अपने चश्मे अदल-बदल परस्पर आँखों पर आँखें चढ़ाते थे।"

ऊपर कहा जा चुका है कि असहयोग आंदोलन का जो व्यापक प्रभाव हिंदी-साहित्य पर पड़ा उसी का व्यापक प्रभाव पांडेय बेचन शर्मा की रचनाओं में भी मिलता है। जिस उत्तेजनापूर्ण और प्रभावात्मक भाषा और शैली में राजनीतिक वितंडावाद किया जाता है उसी का अनुसरण पांडेयजी अपनी सभी रचनाओं में करते हैं। इन रचनाओं को पढ़ते समय स्वभावतः वक्तृत्व का

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'

चमत्कार प्राप्त होता है। परंतु वस्तुतः विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करने पर वह वक्तृत्व का रूप नहीं ठहरता। वह कथन-प्रणाली का केवल शक्तिशाली रूप है। एक ही साँस में समस्त भावावेश को कह डालने की एकांत चेष्टा में निरंतर आवेश झलकता है। सभी वाक्य इतने तुले हुए रहते हैं कि शैली से सुंदर ज्योति प्रकट होती है। एक वाक्य दूसरे वाक्य पर इस प्रकार आश्रित रहता है कि बीच में एक-दो वाक्य अलग कर देने से सारा बल ही नष्ट हो जाता है। जिस समय किसी व्यक्ति के हृदय में भावों की भयंकर आँधी उठती है उस समय वह अपने सामने उसकी व्यंजना का परिमित अवकाश पाकर झटपट एक उन्माद के रूप में—उस भावना-संसार का जितना अंश बाह्य जगत् में लाते बनता है, रख देता है। जैसे :—

"मैं कहता हूँ शासन के सूत्रधारों से—और उनके एक एक मंगल-मय विचार से, मैं कहता हूँ देश के सुंदर खिलौनों से—और उनकी शैशव-मति-सुकुमार से, मेरा कहना सुनो—मुझे कहने दो।

"मैं कहता हूँ समाज के शिवालयों, बाल-संस्थाओं के देवताओं की 'ड्यूटी' पर नियुक्त 'कमज़ोर' मनुष्यों से, मैं कहता हूँ शहर शहर के गली-कूचों में रहनेवाले, डूबकर मछली निगलनेवाले, सत्तर चूहे खाकर दूसरों को हज करने का उपदेश देनेवाले—छुपे रुस्तमों से, मैं कहता हूँ आदर्श का नाम लेकर, प्रथा की दोहाई देकर, सत्य के मुँह पर ढोंग का लिफ़ाफ़ा चढ़ाकर अपने कंठ और स्वर को छिपाकर झिल-मिल गंभीरता के कंठ और स्वर से बोलनेवाले महाशयों से; मेरा कहना सुनो, मुझे कहने दो।

"है कोई ऐसा माई का लाल जो हमारे समाज को नीचे से ऊपर तक सजग दृष्टि से देखकर, कलेजे पर हाथ रखकर, सत्य के तेज से

मस्तक तानकर, इस पुस्तक के अकिंचन लेखक से यह कहने का दावा करे कि—'तुमने जो कुछ लिखा है ग़लत लिखा है। समाज में ऐसी घृणित, रोमांचकारिणी, काजल-काली तस्वीरें नहीं हैं।' अगर कोई हो तो सोत्साह सामने आवे, मेरे कान उमेठे और छोटे मुँह पर थप्पड़ मारे, मेरे होश के होश ठिकाने करे। मैं उसके प्रहारों के चरणों के नीचे हृदय-पाँवड़े डालूँगा, मैं उसके अभिशापों को सिर माथे पर धारण करूँगा—सँभाल लूँगा। अपने पथ में कतर-ब्योंत करूँगा। सच कहता हूँ, विश्वास मानिए, 'सौगंद औ गवाह की हाजत नहीं मुझे'।"

उग्रजी की स्वाभाविक लेखन-शैली यही है। इसमें हमें संस्कृत तत्समता की उत्कृष्टता एवं अव्यावहारिक दीर्घ समासांत पदावली के दर्शन न मिलेंगे—उनसे ओत-प्रोत भाव-व्यंजना की जो अस्वाभाविकता होती है वह यहाँ न दिखाई पड़ेगी। साधारण—नित्य की—बातचीत में जिस भाषा का व्यवहार होता है उसका इतना सुंदर और प्रभावात्मक रूप हो सकता है, उपर्युक्त अवतरण इस बात का प्रत्यक्ष साक्षी है। विषय-प्रतिपादन की इस रोचक शैली में एक व्यक्तित्व मिलता है—वैयक्तिकता ही भाषा-शैली का प्रधान गुण है। एक ही आवेश में कई बातों का उल्लेख करना, एक ही बात को उलटकर पुनः कहना कितना रोचक एवं आकर्षक होता है। उसमें एक अटूट धारावाहिकता तथा भाव-व्यंजना का उग्र रूप प्राप्त होता है।

देश में जब से अँगरेजी भाषा के अध्ययन का अधिक प्रचार हुआ है, और प्रचार ही क्यों व्यवहार हुआ है; क्रमशः यह परिपाटी चल पड़ी है—अभ्यास पड़ गया है—कि जहाँ चार पढ़े-लिखे सज्जन उपस्थित हो जाते हैं और बातचीत आरंभ होती है वहाँ उस बातचीत के सिलसिले में

अनेक शब्द अँगरेजी के आ जाते हैं। यह अस्वाभाविक नहीं है क्योंकि इसी प्रकार उर्दू का भी व्यवहार बढ़ा था। यह एक व्यापक नियम है कि जब दो भाषा-भाषी आपस में—किसी भी कारण से—मिलते हैं, तो स्वभावतः एक दूसरे की भाषा का क्रमशः बिना किसी उद्देश के व्यवहार करने लगते हैं। प्रथमतः इस विषय में कुछ चेष्टा करनी पड़ती है। पर अंततोगत्वा एक ऐसा समय उपस्थित हो जाता है जब एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा में अपने आप प्रयुक्त होने लगते हैं। 'उग्र' जी इसी व्यापक नियम के निदर्शन एवं स्वाभाविकता उपस्थित करने के विचार से रचनाओं में—और प्रधानतः उन अवसरों पर जहाँ आजकल के अँगरेजी पढ़े-लिखे विद्यार्थियों की बातचीत आती है—अँगरेजी के कितने ही शब्दों का व्यवहार करते हैं। वे 'स्टेज', 'सिनेमा', 'मास्टर', 'स्कूल', 'स्टूडेंट', 'हाल', 'प्रोग्राम' ऐसे नित्य के व्यवहार में आनेवाले शब्दों का व्यवहार करते पाए जाते हैं जो वस्तुतः अँगरेजी पढ़े-लिखों के अतिरिक्त जन-साधारण के व्यवहार-क्षेत्र से बाहर हैं। परंतु पंडित अंबिकादत्त व्यास की 'कक्षपुस्तिका' (Pocket book) का व्यवहार समीचीन नहीं। इससे अच्छा तो उस शब्द का ही प्रयोग है। इसके अतिरिक्त वे अनेक स्थानों पर अँगरेजी पदावली का ही व्यवहार करते हैं। यह भी केवल बातचीत की स्वाभाविकता उपस्थित करने के विचार से ही होता है। जैसे:—'I am very sorry,' 'Stand up on the bench,' 'Well done, my young payer!' 'Beg your pardon,' 'Try your utmost,' 'Don't lose,' 'Yes, come on,' 'Let us go and see what is the matter,' इत्यादि।

इस प्रकार के केवल अँगरेजी शब्दों अथवा पदावली का ही व्यवहार हुआ हो ऐसी बात नहीं। वाक्य-विन्यास में भी वह झलक उपस्थित है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार अँग-रेजी में कथन का कुछ अंश कहकर कहनेवाले का उल्लेख होता है और तब पुनः कथन का शेष अंश आरंभ किया जाता है, उसी प्रकार उग्रजी ने भी किया है।—"अरे, यह क्या ?" हरनारायण बाबू ने अपने रूमाल से रामू के कपोलों को, हलके हाथ, दो-तीन बार स्पर्श करते हुए कहा—"आपकी ठुड्डी पर चूना लग गया था", "यही"—मैंने उत्तर दिया—"बटुक-प्रेम की आदत। आप जानते हैं, समाज इन थिएटरवालों को किस दृष्टि से देखता है ?", "पहला सवाल" मैंने मुस्कुरा-कर कहा—"मेरा होगा", "चलिए"—मैंने कहा "मैं उनसे मिलकर अपने को भाग्यवान् समझूँगा।" इत्यादि। हिंदी के पुराने लेखक लाला श्रीनिवासदास ने अपने "परीक्षा-गुरु" उपन्यास में इस प्रणाली का अनुसरण किया था। इस प्रकार के कथोपकथन की प्रणाली का अनुसरण 'भद्दा' नहीं तो अनावश्यक और अप्रयोजनीय अवश्य है। संभव है इसके पक्षपाती इसको स्वाभाविक कहें, परंतु अभी तक प्रचलित प्रणाली में कोई ऐसी अव्यावहारिक निर्बलता नहीं दिखाई पड़ती।

बाबू शिवपूजन सहाय की भाँति इन्होंने भी—कहीं कहीं उनसे अधिक—विरामादि चिह्नों का प्रयोग किया है। वस्तुतः भावावेश की शैली में चिह्नों से बड़ा सहारा मिलता है। इनकी सहायता से भाव-व्यंजना में कुछ अधिक सुगमता आ जाती है। इसी सुगमता के कारण इन्होंने स्थान स्थान पर वाक्यों

में उलट-फेर किया है। इस उलट-फेर में नाटकत्व कम मिलता है। जैसे—"कभी करुणा आती थी—प्यारे की उस अवस्था पर—", "नहीं तो, देखते अभागिनी नर्गिस के इस निराश सौंदर्य को।", "गई होती अदालत में वात तो लद गए होते", "कैसे अच्छे थे वे दिन", "इसी लिये तुमसे कहता हूँ, हँसी न समझो मेरी बात को।", "मत चूमने दो किसी पुरुष को अपने होठों को, मत मलने दो किसी मतवाले को अपने गालों को, मत सटने दो अपनी कोमल छाती को किसी राक्षस के वज्र-हृदय से।", "वह आया है—उनको जीवन देने जो कि प्राणों के रहते मृतक बने हैं।" इत्यादि। परंतु यह बात कहीं कहीं बहुत अस्वाभाविक ज्ञात होती है। बहुत अधिक उलट-फेर भी सर्वत्र अच्छा नहीं होता। जैसे—"तुम दे जाने को थे, रामायण की एक अच्छी कापी", अथवा "मत बनाओ, अभी से इंद्रियों के दास बनकर, अपने को देवता से राक्षस।" इन वाक्यों में वस्तुतः इतना उलट-फेर हुआ है कि व्यावहारिकता कोसों दूर भागी है। बोलचाल अथवा कथोपकथन में इतना उलट-फेर स्वाभाविक नहीं हो सकता। परंतु लिखने के आवेश में यदि लेखक कहीं ऐसा लिख जाय तो साधारण बात होगी, ऐसा नहीं माना जा सकता।

इनमें भी अन्य लेखकों की भाँति आलंकारिकता, स्थान स्थान पर, मिलती है। परंतु इनकी आलंकारिकता में भी व्यावहारिकता रहती है। इनके उपमान स्वाभाविक होते हैं। उनका अनुमान हम सरलता से कर सकते हैं। इसके लिये काल्पनिक उन्माद अथवा अनुभूति की आवश्यकता नहीं पड़ती जैसा कि बाबू जयशंकर प्रसाद एवं राय कृष्णदास में आवश्यक

था। जैसे—"आखिर लड़कों ने बछड़ों की तरह सिर से भीड़ चीरकर अपने लिये रास्ता बना लिया।", "वह प्रभात की तरह सुंदर और रुपए की तरह आकर्षक था।", "हम लोग सौत के लड़के की तरह मुँह ताकते ही रह गए।", "हेरोदिया इस समय वसंत ऋतु की पुष्पमयी वाटिका की भाँति सुंदरी है और शरद-पुष्करिणी की तरह कूल-काम-तरंगमयी है।", "मेरी अनेक दुर्बलताओं के साथ, 'ज्ञानमंडल' प्रेस की दुर्बलताएँ ऐसी मिल गई हैं जैसे फ्रांस के साथ ब्रिटेन।", "वह सोने की ढेर की तरह तेजोमयी और हीरे की तरह 'चमचमा' रही थी।", "दूध पानी की तरह मिले पड़े थे।", "मालूम पड़ने लगा (मानो), खालिस गुलाब की पंखड़ियों की पुतली मेरी साइकिल का हैंडिल पकड़े खड़ी है।", "सीरी चुप रही, बेत की तरह, पीपल के पत्ते की तरह, काँपती रही।" इत्यादि में जितने उपमान आए हैं सभी का दर्शन हमें नित्य-प्रति होता रहता है। उनकी अनुभूति के लिये हमें अपने मस्तिष्क को, गूढ़ चिंतन के लिये, कष्ट नहीं देना पड़ता। परंतु उपमानों में नवीनता अवश्य है। साथ मिलने के लिये फ्रांस और ब्रिटेन का उपमान कितना नवीन और विचित्र है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उग्रजी की भाषा-शैली प्रत्येक भाँति स्वाभाविक, व्यावहारिक एवं नवीन भाव-व्यंजना से पूर्ण है। लेखक को जिस संसार में अपना संदेश पहुँचाना है वह वस्तुतः इसी प्रकार की भाषा का ग्राहक और प्रेमी है।

आवश्यक स्थानों पर, एक साधारण बात को, लेखक जब बल-विशेष देना चाहता है तो उसी जोड़-तोड़ की कई भावनाओं को, उसी प्रकार के नपे-तुले छोटे छोटे वाक्यों में लिख-

कर, उसमें एक चमत्कार उत्पन्न कर देता है। उस चमत्कार के साथ साथ कथन-प्रणाली में अच्छी शक्ति आ जाती है। इस कथन में भाव-व्यंजना की विशदता पाई जाती है। ऐसे स्थानों पर लेखक चाहे तो छोटे से वाक्य में ही समस्त भाव को कसकर रख दे, परंतु ऐसा अभिप्रेत नहीं। वह संपूर्ण चित्रण चाहता है। "न रोता था और न हँसता ही था, न काँपता था और न हिलता ही था।", "उसकी आँखें, लाल थीं, कपोल पीले, और ओंठ सुफ़ेद, बिखरे बालों और अस्तव्यस्त वस्त्रोंवाली वह अभागिनी शून्य सी खड़ी थी।", "चारों ओर डंडा-शाही, ईंटा-शाही, छुरा-शाही, तलवार-शाही, औरंग-शाही और नादिर-शाही का बोलबाला था। धूर्त नौकर-शाही, अपवित्र नौकर-शाही और इन सब खुराफातों की जड़ नौकर-शाही इस समय घूँघट में मुँह छिपाए है।", "उनकी आँखों में मादकता थी, स्वर में करुणा थी और उनके मुख पर के भावों में था मदांध-पूर्ण प्रेम!", "खाने न दें।" "तुम पुरुष हो—तुम देवता हो—तुम ईश्वर हो—तुम इन पापियों से हमेशा दूर रहो। हे सुकुमार, हे प्यारे, हे कुलों के प्रकाश और घरों के दीपक! सावधान!", "नहीं तो मुख पर कालिख पुत जाने पर, इन सुंदर ओठों की लाली सूख जाने पर, इन आँखों का पानी मर जाने पर, संसार में तुम्हें घृणा ही घृणा का सामना करना पड़ेगा।" इत्यादि।

इस प्रकार की कथन-प्रणाली में अंशतः भाव-व्यंजना की प्रगल्भता और अंशतः भावावेश का प्राबल्य पाया जाता है। इसके अतिरिक्त स्थान स्थान पर कथन-शैली का नाटकीय आवेश बड़ा ही मनोरम और प्रभावात्मक मिलता है। उसमें

से व्यंजनात्मक विशदता कहीं जा नहीं सकती। उसमें सुंदर आकर्षण और स्वाभाविकता रहती है। जैसे—"वह आया है—उन अंधों को आँख देने जो कि देखते हुए भी कुछ नहीं देखते। उन वधिरों को कान देने जो कि सब कुछ सुनते हुए भी कुछ नहीं सुनते हैं। उन पंगुओं को पैर और लूलों को हाथ देने जो कि इनके रहते हुए भी अकर्मण्य बने हैं।", "देशभर को सत्याग्रह के लिये तैयार करो। सब के कानों तक अहिंसा का संदेश पहुँचा दो। अत्याचारी हो या पीड़ित, राजा हो या प्रजा, पिता हो या पुत्र, पति हो या पत्नी—सब से कह दो कि कोई अपनी आत्मा का अपमान न करे।", "उसने कहा है कि तुम्हीं ने उसे वह पापकर्म सिखाया है। तुम्हीं उसके साथ वैसा नारकीय व्यवहार करते हो।" इत्यादि।

थोड़े में यही कहा जा सकता है कि पांडेय वेचन शर्मा की भाषा-शैली में नवीन युग का उत्कर्ष है, आंदोलनात्मक उत्साह है, कथन का उच्छृंखल सौंदर्य है और भावावेश की उग्रता है। दार्शनिक और सूक्ष्म गवेषणा का शांत विवेचन इस प्रकार की भाषा में भले ही न हो सके परंतु भावों के वेग का स्वाभाविक चित्र इसमें अवश्य उपस्थित किया जा सकता है। शांत तथा गंभीर विषयों का निदर्शन इसमें सफलता-पूर्वक न हो सके ऐसा स्वाभाविक है, परंतु वाद और विवाद, कथन और प्रतिपादन, आंदोलन और प्रचार के वाता-वरण के अनुकूल यह अवश्य है। यह जिस वायु-मंडल में उत्पन्न हुई है उसकी प्रतिष्ठा वहीं हो सकती है। इस भाषा की व्यावहारिकता ने शैली को एक नवीन कांति दी है। विषया-

नुकूल भाषा को रखना पांडेयजी ने भली भाँति सीखा है। साथ ही पात्र के अनुकूल भाषा का होना स्वाभाविक है, इसका भी उन्होंने निर्वाह किया है। जैसे—"इस मुल्क की आँखों पर आपका 'रिमार्क' एक ही रहा। अपनी 'औरत' की गुस्ताख़ी माफ़ कीजिएगा, क्या मर्दों के हाथ में औरतों के दिलो-दिमाग़ का, दीनो-दुनिया का, बहिश्तो-दोज़ख़ का ठेका है? मर्द जिसे कहे औरत उसी को प्यार करे। उसी के गले पड़े। उसी को अपना बनाए। औरतें गंदी हैं, औरतें बेवकूफ़ हैं, औरतें ग़ुलाम हैं, औरतें बदतहज़ीब हैं और बेतमीज़ हैं—यानी दुनिया में सबसे अगर ख़राब हैं तो औरतें हैं। फिर; बंदा परवर! आप मर्द लोग, जो अपनी सफ़ाई, अक्लमंदी, बहादुरी और तहज़ीब के लिये मशहूर हैं, औरतों को नेस्तोनाबूद क्यों नहीं कर देते? यही कीजिए और ज़रूर कीजिए, बड़ा सवाब होगा। दुनिया (अमेरिका, जापान, इँग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, रूस, चीन, तुर्की) औरतों को आज़ादी दे रही है। हुज़ूर के मुल्क के मर्दों को चाहिए कि दुनिया के ख़िलाफ़ बग़ावत करें। औरतों को जेल में रखें। खाने न दें, सुनने न दें, प्यार करने न दें। और पढ़ने-लिखने तो ज़रूर न दें। अगर आपके मुल्क को 'बाग़े-अदन' और मर्दों को ख़ुदा कहा जाय तो बुरा न होगा। आप लोग हम औरतों को समझा दीजिए कि इल्म ही वह 'फ़ारबिडेन ट्री' है जिसका फल खाने की आज्ञा नहीं। औरत भी 'आदम' और 'ईव' की तरह, इल्म के पेड़ के फल खाकर चौकन्ना हो जायँगी, होश में आ जायँगी। इसलिये जो औरत आप (ख़ुदाओं) की बात न माने, उसे अपने 'सोशल पैराडाइज़'

(सामाजिक स्वर्ग) से निकाल बाहर कीजिए। मगर, याद रहे; उनमें पहला नंबर अपनी असग़री का ही रखिएगा।"

इस अवतरण में उर्दू शब्दावली तो अवश्य है; पर उर्दू शैली की छाप वाक्य-विन्यास में नहीं दिखाई पड़ती। वाक्यों का क्रम भी इधर-उधर नहीं हुआ है। आत्म-निवेदन ही में नहीं वरन् विचार-पद्धति में भी भारतीय संस्कृति झलकती है। लेखक ने एक मुसलमान महिला की स्वाभाविक भाषा लिखने का प्रयत्न किया है। परंतु "आज्ञा" और "फल" ऐसे शब्दों का व्यवहार नहीं बचा सका अथवा बचाया नहीं गया। इस देश-विशेषी भाषा के झगड़े से जब लेखक अलग दिखाई पड़ता है तब उसकी भाषा में ही नहीं परिवर्तन हो जाता प्रत्युत भाव-व्यंजनात्मक प्रणाली में और भाषा की साधारण वेश-भूषा में भी अंतर उपस्थित हो जाता है। जहाँ 'ईसा', 'हेरोद' और 'शांति' (विवेकानंद की पुत्री) सभी एक भाषा का अनुसरण करते पाए जाते हैं वहाँ भाषा में परिष्कार और कांति पाई जाती है। क्योंकि संगठन में और शब्द-योजना में काव्योचित उत्कृष्टता प्राप्त होती है। इन स्थानों में भाव-निदर्शन में आलंकारिकता विशेष मिलती है। व्यंजनात्मक गंभीरता के साथ साथ भाषा में भी स्थिरता आ गई है। जैसे:—

"शांति, तुमने मुझे देखकर अपना गाना क्यों बंद कर दिया? देखती हो तुम्हारे पाले हुए मृग-शावक मेरी ओर कैसी क्रोध-पूर्ण दृष्टि से देख रहे हैं। मानो मैंने उनका कोई सुख छीन लिया है। आम-वृक्ष पर बैठी हुई मौन कोकिला मुझे देखते ही बोल उठी—मानो कहती है कि इस समय चले जाओ। मेरे आनंद के बाधक न बनो।

मयूर—जो अभी तक तुम्हारे गान पर मुग्ध होकर नाच रहे थे—अब अपने सहस्र नील-चंद्रांकित पक्ष को समेटकर उदास खड़े हैं।"

"आज से दस वर्ष पहले की घटना मुझे ज्यों की त्यों याद है शांति! तब तुम्हारी अवस्था केवल पाँच वर्षों की थी। एक दिन राजगृही वाले उद्यान में कदंब-वृक्ष के नीचे एक युवक बैठकर माला गूँथकर तुम्हें प्रसन्न कर रहा था। उस समय आकाश में पूर्ण-चंद्र तुम्हारी बाल-सुलभ चपलता को देख देखकर हँस रहा था। और निशा सुंदरी निःस्तब्ध होकर तुम्हारी और उस युवक की बातें सुन रही थी। कुछ याद आती है।"

"हेरोदिया इस समय वसंत-ऋतु की पुष्प-मयी वाटिका की तरह सुंदरी है और शरद्-पुष्करिणी की तरह कूल-काम-तरंगमयी है। ऐसे अवसर को हाथ से जाने देना नितांत मूर्खता है। ओह! उसके रूप की मादकता देखकर मदिरा का रंग उड़ जाता है। उसके ओठों की लालिमा देखकर प्रभात का सूर्य उषा को भूल जाता है और भरसक शीघ्रता करके हेरोदिया के भवन-शिखर पर उसके दर्शनार्थ पहुँचता है। ऐसी सुंदरी का केवल लोकापवाद के भय से त्याग करना कदापि उचित नहीं। मैं इस समय यहूदिया का सम्राट् हूँ, कर्ता, धर्ता और हर्ता हूँ। हमारा कोई क्या बिगाड़ लेगा? हँ, हँ,—मूर्ख कहते हैं कि छोटे भाई की स्त्री पर दृष्टि डालना पाप है। राजा के लिये कोई कर्म भी पाप नहीं कहा जा सकता। वही पाप और पुण्य का नियंता है। जिस तरह से सृष्टि की सब वस्तुओं का सम्राट् बनाया है—उसी प्रकार मनुष्यों का सम्राट् भी अपनी प्रजा के साथ स्वेच्छाचार कर सकता है।"

भाषा भाव की अनुरूपिणी होती है। जिस प्रकार का वर्ण्य विषय होता है उसी प्रकार की भाषा भी आवश्यक होती

है। वस्तुतः भाव और भाषा का साम्य न होने से पाठक के हृदय में उस विचार-परंपरा का अनुभव उतनी स्पष्टता और स्वाभाविकता से नहीं होता जिसका दिग्दर्शन अभिप्रेत होता है। अतएव भाषा का भाव के उन्मेष के अनुरूप होना अत्यंत आवश्यक है। यही कारण है कि यदि हम भाषा के क्रमागत विकास का अध्ययन करना चाहते हैं तो विचार-परंपरा का अध्ययन आवश्यक होता है। जिस काल में विचार-पद्धति का जितना विकास हुआ रहता है भाषा भी उतनी ही सबल होती है। जिस प्रकार क्रमशः भाव-शैली उन्नत और परिष्कृत होती जाती है, उसमें बल का संचार होने लगता है और उसका विस्तार व्यापक होने लगता है, उसी प्रकार भाषा में भी सजीवता तथा प्रौढ़ता आने लगती है और वह अनेक प्रकार के भाव-द्योतन में समर्थ होती जाती है। यही कारण है कि किसी भी साहित्य के आरंभिक काल में भाषा का रूप संकुचित तथा निर्बल रहता है। उसमें न तो एकरूपता ही रहती और न अनेक प्रकार के भाव-प्रकाशन की सामर्थ्य ही। उनका धीरे धीरे विकास होता है।

उपसंहार

इसी स्वाभाविक नियम का दर्शन हम हिंदी-गद्य की आरंभिक अवस्था में पाते हैं। हिंदी गद्य का प्रारंभिक काल निर्विवाद रूप से उसी समय से माना जाता है जिस समय मुंशी सदासुखलाल, इंशा अल्लाखाँ, सदल मिश्र और लल्लूजी लाल की रचनाएँ प्रकाश में आईं। इसके पूर्व गद्य का इतिहास शृंखलाबद्ध और धारावाहिक रूप में नहीं मिलता। इन लोगों ने इस समय जो रचनाएँ उपस्थित कीं उनमें से

कुछ तो केवल संस्कृत से अनुवाद मात्र थीं और कुछ स्वतंत्र। जिन लोगों ने अनुवाद किया उनको आधार-स्वरूप भाव और भाषा दोनों की सहायता प्राप्त हुई। यही कारण है कि उनकी कृतियों में संस्कृत की भावभंगी अधिक दिखाई पड़ती है। यह सांस्कृतिक प्रभाव शब्दों तक ही परिमित न रह सका परंतु भाव-द्योतन की प्रणाली तक में पाया जाता है जिसे हम एक शब्द में शैली कहते हैं। अभी हिंदी-साहित्य में केवल पद्य-रचना ही होती रही; लोगों के कान तुकांत पदावली में मँजे थे। यही कारण है कि लल्लूजी लाल और सदल मिश्र की रचनाओं में तुकांत-रचना की अधिकता मिलती है। इन लोगों की कृतियों में इधर-उधर प्रांतिकता भी स्पष्ट दिखाई पड़ती है। साधारणत: इस समय की अधिकांश रचनाओं में शब्दयोजना असंयत एवं वाक्य-रचना अव्यवस्थित और भाव-प्रकाशन निर्बलतापूर्ण था। मुंशी सदासुखलाल की भाषा में कुछ गंभीरता और परिष्कृत रूप अवश्य था। परंतु पंडिताऊपन भाषा का गला दबाता अवश्य दिखाई पड़ता था।

इन लोगों से कुछ भिन्न रचना-शैली ईंशा अल्लाखाँ की अवश्य थी। उनकी रचना का उद्देश्य स्वांत:सुखाय था; यही कारण है कि उनकी भाषा का प्रवाह भी स्वच्छंद और अधिक चमत्कारपूर्ण था। पूर्व-वर्णित लेखकों की वस्तु धर्म-प्रधान होने के कारण भाव-व्यंजना भी अपेक्षाकृत गंभीर हुई है। परंतु खाँ साहब की वस्तु काल्पनिक होने के कारण उनकी भाव-द्योतन की प्रणाली भी नवीन और स्वतंत्र थी। उद्भावनाशक्ति के विचार से खाँ साहब सबों में श्रेष्ठ थे। उनकी वस्तु में नवीनता थी, भावभंगी और शैली में

चमत्कार था। इतना होने पर भी भारतीय संस्कृति की झलक उनमें कुछ कम पाई जाती है। शब्द-योजना में ही उर्दूपन नहीं मिलता वरन् वाक्य-विन्यास में भी उर्दू छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। यदि इस काल की सभी रचनाओं को एकत्र रखकर विचार किया जाय तो यही कहा जायगा कि भाषा और व्याकरण दोनों का निर्वाह संयत रूप में नहीं हुआ था—न तो भाषा का ही रूप स्थिर हुआ था और न व्याकरण के नियमों का ही पालन दिखाई पड़ता था। यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं थी। उस समय कुछ लिखना और पठन-पाठन को व्यापक बनाना ही ध्येय था। विषय भी इसी लिये केवल साधारण कथा-कहानी का ही लिया गया। इसमें रुचि का आकर्षण ही प्रधान वस्तु थी। दूसरी बात जो इस समय ध्यान देने योग्य थी और जिसका संबंध सीधे सीधे शैली से है वह थी भाषा में शुद्धतावाद के झगड़े का आरंभ। इस झगड़े के प्रधान नायक इंशा अल्लाखाँ और लल्लूजी लाल थे। इसमें लल्लूजी लाल की रचना—प्रेम-सागर—को देखने से स्पष्ट बोध होता है कि उर्दू वाक्य-रचना और शब्द-योजना से बचने का प्रयत्न लेखक ने सचेष्ट होकर किया है। दूसरी ओर खाँ साहब की रचना में उर्दूपन शब्द-योजना तक ही न रहकर वाक्य-रचना एवं भावभंगी तक में घुसा हुआ था। इस भाँति सचेष्ट रूप से दो भिन्न भिन्न प्रकार की शैलियों का शिलान्यास प्रारंभिक काल ही में हुआ। इसका क्रमशः विकास होता रहा।

इसके उपरांत यदि हम ईसाइयों के द्वारा की गई हिंदी की सेवा का उल्लेख न करने का निश्चय कर लें तो शैली का

क्रमिक विकास दिखाना असंबद्ध सा ज्ञात होगा, क्योंकि तीन लेखकों के इस दल के उपरांत पचास वर्षों के अनंतर राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह का काल आता है। यदि इन धर्मप्रचारक ईसाइयों की रचनाओं का विचार न हो तो इन पचास वर्षों को इतिहास में शून्य स्थान प्राप्त होगा। अतएव इन रचनाओं का उल्लेख होना आवश्यक है। यह केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही उचित नहीं है वरन् शैली के विचार से भी इस काल की कुछ विशेषताएँ हैं जिनका उल्लेख आवश्यक है। इन ईसाइयों की रचनाओं में उर्दूपन का पूर्ण वहिष्कार दिखाई पड़ता है। यदि हिंदी का प्रचलित शब्द उन्हें नहीं मिलता था तो किसी भी प्रकार वे उर्दू के शब्दों का व्यवहार नहीं करते थे वरन् हिंदी का ही अप्रचलित अथवा ग्रामीण शब्द लेना उन्हें उतना नहीं खटकता था। 'समय' के स्थान पर उन्हें 'वक्त' कभी न सूझा। 'समय' के स्थान पर 'वेला' अथवा 'जून' तक का व्यवहार दिखाई पड़ता है। वाक्य-विन्यास में भी उर्दू की उस छाया का दर्शन नहीं होता जिसका इंशा अल्लाखाँ की रचनाओं में होता है। इसके अतिरिक्त हिंदी का प्रचार भी इन लोगों ने अधिक किया। जिस ओर पीछे से राजा शिवप्रसाद ने पूर्ण रूप से कार्य किया उस ओर पूर्व ही इन लोगों ने कार्य आरंभ किया था। अपनी पाठशालाओं में पढ़ाने के लिये अनेक प्रचलित विषयों की पुस्तकों का इन्होंने निर्माण कराया जिससे भाषा का प्रचार बढ़ा। इन बातों का संबंध केवल इतिहास से ही नहीं है वरन् शैली-विकास से भी है। इस प्रकार प्रचार होने से और अनेक विषयों में उपयुक्त होने के कारण भाषा में व्यापकत्व

आने लगा, उसकी प्रौढ़ता विकसित होने लगी और उसकी व्यावहारिकता बढ़ने लगी। भाषा का सीधा-सादा सरल रूप खड़ा होने लगा। इन विशेषताओं का रूप हमें इनकी रचनाओं में स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

पाठशालाओं के पाठ्यक्रम के अनुकूल पुस्तकों के प्रणयन का जो संबंध ईसाई लेखकों द्वारा प्रारंभ हुआ वह राजा शिव-प्रसादजी द्वारा दृढ़ हुआ। साहित्यिक क्षेत्र में इस समय प्रधानतः दो राजाओं ने कार्य किया; एक राजा शिवप्रसादजी और दूसरे राजा लक्ष्मणसिंहजी ने। इन लेखकों के काल में वस्तुतः एक ही विषय ध्यान देने योग्य है। भाषा-शुद्धता का जो युद्ध वास्तव में लल्लूजी लाल और इंशा अल्लाखाँ के समय में आरंभ हुआ था वह इस समय स्पष्ट और दृढ़ हो गया। राजा शिवप्रसादजी की रचना-शैली उर्दू और हिंदी का मिश्रण थी। उसमें उर्दू की छाप शब्द तक ही नहीं वरन् वाक्य-विन्यास तक में दिखाई पड़ती है। उनके ठीक विपरीत राजा लक्ष्मण-सिंह की रचना-शैली थी। इन्होंने उर्दू शब्दों का ही नहीं वरन् वाक्य-विन्यास तक का बहिष्कार किया। यह शुद्धता-वादी युद्ध आज तक चल रहा है जो बाबू हरिश्चंद्र के समय को पार करता हुआ वर्तमान काल तक में पहुँच चुका है।

इसके उपरांत भारतेंदु का काल आया। उनके समय में अनेक प्रतिभाशाली लेखक हुए। अनेक विषयों पर ग्रंथ लिखे गए। उपन्यास, इतिहास, लेख, समालोचना के अति-रिक्त पाठशालाओं के पाठ्य-क्रम से संबंध रखनेवाले अन्यान्य विषयों पर सुंदर पुस्तकें लिखी गईं। रचना-शैली का क्रमशः विकास हुआ, शब्दों में प्रौढ़ता, वाक्य-विन्यास में स्पष्टता

और संगठन बढ़ने लगा। इस काल में भाषा और भावभंगी दोनों में साहित्यिकता का सिक्का जमने लगा था। भाव-प्रदर्शन में भी बल आ गया था। इतना बल आ गया था कि लेखकों को साहित्यिक विशिष्टताएँ एवं गद्यात्मक उत्कर्ष दिखाने की इच्छा होती थी। इतना होते हुए भी भाषा-व्याकरण की ओर लोगों की दृष्टि नहीं फिरी थी। इस समय की कितनी ही रचनाओं में व्याकरण संबंधी त्रुटियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। विरामादिक चिह्नों का भी प्रयोग उचित रूप में नहीं हुआ है। इससे स्थान स्थान पर भाषा की बोधगम्यता नष्ट हो गई है। एक शब्द में यदि हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि इस समय तक रचना-शैली में व्यापकता एवं परिमार्जन नहीं उपस्थित हो सका था।

जो न्यूनताएँ हरिश्चंद्र-काल में रह गई थीं उनकी पूर्ति वर्तमान काल में हुई। व्याकरणगत न्यूनताओं के विषय में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा पंडित गोविंदनारायण मिश्र प्रभृति सतर्क लेखक विशेष तत्पर रहे। भाषागत परिमार्जन के अतिरिक्त वर्तमान काल की प्रधान विशेषता है भाषा का व्यापक विस्तार एवं भाव-प्रदर्शन की प्रौढ़ शैलियों का स्वतंत्र स्वरूप। इस वर्तमान काल में अनेक लेखक कुशलतापूर्वक अनेक विषयों पर लिख रहे हैं। हर एक विषय की स्वतंत्र शैली दिखाई पड़ती है। इसके अतिरिक्त इन स्वतंत्र शैलियों में लेखकों के व्यक्तित्व के अनुसार वैयक्तिकताएँ विशेष दिखाई पड़ती हैं। ये विशेषताएँ भाषा की प्रौढ़ता और परिमार्जन की परिचायक हैं।

आज भाषा का जो दिव्य और परिमार्जित रूप दिखाई पड़ता है उसमें कुछ ऐसी खटकनेवाली बातें प्राप्त होती हैं जो

थोड़े ही प्रयास से सुधर सकती हैं और इस प्रयास की अत्यंत आवश्यकता है। पहली न्यूनता तो यह है कि शब्दों का स्वरूप ही स्थिर नहीं है। एक ही शब्द कई रूप से प्रयुक्त होता है। कोई लेखक 'बेर' लिखता है तो दूसरा उसको 'बार' लिखता है; कोई 'उद्देश्य' का प्रयोग करता है और कोई 'उद्देश' ही लिखना उचित समझता है; कोई 'धर्म्म' लिखता है कोई 'धर्म' ही ठीक मानता है। इसके अतिरिक्त क्रियाओं का रूप भी चिंतनीय है। एक 'देखना' क्रिया के कई रूप प्रयुक्त होते दिखाई पड़ते हैं। 'दीख', 'दिखाई', 'दिखलाई', 'देखाई' सब एक ही क्रिया के रूप हैं। इन सभी रूपों का प्रयोग आजकल मिलता है। इस प्रकार के भिन्न भिन्न प्रयोग उस समय और भयंकर ज्ञात होते हैं जब एक ही लेखक दो रूपों का व्यवहार करता है। शब्दों के निश्चयात्मक स्वरूपों का स्थिर होना अत्यंत आवश्यक है। इस निर्बलता के कारण भाषा की स्थिरता में संदेह होने लगता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई विदेशी इस भाषा का अध्ययन आरंभ करता है तो उसे विशेष असुविधा का सामना करना पड़ता है।

इधर जब से भाषा की व्यापकता और विस्तार बढ़ता गया है, उसमें अन्य भाषाओं की भावभंगी एवं वाक्य-विन्यास का समावेश होता गया है। प्रथमतः उर्दू के संयोग के कारण उर्दू शब्दों और वाक्य-विन्यास का प्रभाव हमने स्पष्ट देख लिया है। इसके उपरांत हरिश्चंद्र-काल ही में अँगरेजी और बँगला भाषाओं का प्रभाव हिंदी में दिखाई पड़ने लगा था। वर्तमान समय में यह निश्चित करना कि किस भाषा का कितना अंश हिंदी भाषा में मिल गया है बड़े ही विस्तार का विषय है। इसके

लिये एक स्वतंत्र पुस्तक की आवश्यकता दिखाई पड़ती है। कहने का सारांश यह है कि एक भाषा पर अन्य भाषाओं का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। परंतु विचारणीय प्रश्न यह है कि अपनी भाषा में पाचन-शक्ति का विकास करते करते कहीं हम उसकी उद्भावना-शक्ति का ह्रास न करने लगें। वर्तमान समय के लेखकों को इस विषय में सदैव सतर्क रहना चाहिए।